ॐ

परमात्मने नमः

प्रवचन सागर के मोती

परम उपकारी पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी
के प्रवचनों में से चयनित

: हिन्दी अनुवाद :

पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन

बिजौलियाँ, जिला-भीलवाड़ा (राज.)

: प्रकाशक :

श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट

302, कृष्णाकुंज, प्लॉट नं. 30, नवयुग सी.एच.एस. लि.
वी. एल. मेहता मार्ग, विलेपार्ले (वेस्ट), मुम्बई-400 056
फोन : (022) 26130820

प्रथम संस्करण :

प्राप्ति स्थान :

1. **श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट,**
   सोनगढ़ (सौराष्ट्र) - 364250, फोन : 02846-244334
2. **श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट**
   302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, वी. एल. महेता मार्ग, विलेपार्ले (वेस्ट),
   मुम्बई-400056, फोन (022) 26130820 Email - vitragva@vsnl.com

टाईप-सेटिंग : **विवेक कम्प्यूटर्स,** अलीगढ़

मुद्रक :

अर्पण

हे परम उपकारी पूज्य गुरुदेव!

आप भव्य जीवों को सम्यक्त्व-प्रधान धर्म का उपदेश प्रदान कर उसकी आराधना में जोड़ रहे हैं। इस पामर को मोक्ष का पन्थ दर्शाया है, वह आपश्री का परम उपकार है। आपश्री की कृपा निरन्तर हमारे ऊपर वर्त रही है। आपने सम्यक्त्वसहित और ज्ञायकस्वभाव का स्वरूप दर्शाया है, वह आपश्री की चरण छाया में हमें प्राप्त हो, ऐसी भावना भाते हैं।

हे गुरुदेव! आपके कर कमल में अनन्य भक्तिपूर्वक विनम्र भाव से यह **प्रवचन सागर के मोती** अर्पण कर अत्यन्त आनन्द अनुभव करते हैं। सर्व सन्तों के प्रति भक्तिपूर्वक उपकारांजलि अर्पित करते हैं।

आपके बालक

卐 ❁ 卐

श्री जगजीवनभाई की बीमारी के प्रसंग में उनके प्रति पूज्य गुरुदेवश्री के वचनामृत

ज्ञान का काम... जानना, जानना, जानना।

जगजीवनभाई - साहेब! ज्ञायक की ओर का प्रयत्न करते हुए विकल्प बहुत आते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री - ज्ञान में विकल्प नहीं है और विकल्प में ज्ञान नहीं है। ज्ञान पृथक् रहकर मात्र जानने का काम करता है।

शुद्ध बुद्ध चैतन्यघन, स्वयं ज्योति सुखधाम,
दूसरा कितना कहें, कर विचार तो पाम।

आत्मा शुद्ध है, बुद्ध है, चैतन्यघन-चैतन्य का असंख्य प्रदेशी घन है, स्वयं ज्योतिस्वरूप है, सुख का-आनन्द का धाम है। यह विचारना। इसमें पाँच पद-पंच परमेष्ठी भी आ गये हैं।

आत्मा ज्ञायकपिण्ड, चैतन्यघन है। जाननहार... जाननहार... जाननहार... बस यही मैं हूँ।

卐 ❁ 卐

पूज्य बहिनश्री बहिन के वचनामृत

भगवान आत्मा ज्ञायकमूर्ति, आनन्दमूर्ति है। जिस प्रकार मिश्री की डली मिठास से भरपूर है, उसी प्रकार ज्ञायक आत्मा आनन्द से भरपूर है, शाश्वत् आनन्द का धाम है।

❁

शरीर से आत्मा भिन्न है, यह जाननेवाला है, वह आत्मा है। विकल्प आता है, वह भी आत्मा नहीं; विकल्प से पृथक् जो जाननेवाला, वह आत्मा है। विकल्प के पीछे जो ज्ञानधारा है, ज्ञायक है, वह आत्मा है, उसमें दृष्टि लगाने से आनन्द आता है।

❁

मैं ज्ञायक हूँ, ज्ञान का पिण्ड हूँ, अबद्ध हूँ—ऐसे विचार करते हुए यदि थक जाए तो देव-गुरु के महान प्रसंग, तीर्थयात्रा के प्रसंग, ऐसे प्रसंग याद करना। एक के एक विचार से थक जाए, तब विचार को बदल डालना और तत्त्व के विचार, देव-गुरु-शास्त्र के विचार इत्यादि करना। विकल्प के साथ 'ज्ञान हूँ' यह ध्यान में रखना : 'मैं निराला... निराला हूँ।'

❁

तत्त्व की रुचि ही आत्मा के नजदीक ले जाती है और दर्शनमोह को तोड़ती है। रुचि यथार्थ करना। विकल्प तो अनन्त आयें।

❁

परिणाम की धारा पलट जाए तो बारम्बार ज्ञायक के विचार करना। पेट में जो दर्द होता है, उसका जाननहार... जाननहार, वह मैं हूँ। मैं स्व-परप्रकाशक हूँ। मैं ज्ञेय को जाननेवाला हूँ। बाहर का सब ज्ञात होता है, वह हो और जाननेवाला, वही मैं हूँ। मैं ज्ञायक हूँ।

'मैं शुद्ध हूँ, ज्ञायक हूँ'—ऐसे विकल्प से थक जाए, वह सही; परन्तु 'ज्ञायक हूँ' ऐसे सहज परिणमते हुए ज्ञान में थकान नहीं होती।

❁

सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की तीव्र भावना है तो पुरुषार्थ करना। सम्यग्दर्शन प्राप्त न हो, उससे आकुलता और उतावल नहीं करना। रुचि और भावना है, वह साथ की साथ ही रहती है। विकल्प बाहर जाए, इससे भी बहुत खेद नहीं करना। एक सरीखा विकल्प मुनियों को भी नहीं रहता, इसलिए खेद और आकुलता नहीं करना। रुचि और भावना बढ़ाना।

❁

अनन्त काल से परसन्मुख लक्ष्य कर रहा है; अब तेरे सन्मुख लक्ष्य मोड़, उसका ही पुरुषार्थ कर। आज कर या कल कर, परन्तु यह कार्य करने से ही छुटकारा है और तब भव का अन्त आनेवाला है, सच्चा सुख मिलनेवाला है।

卐 ❁ 卐

श्री जगजीवन बाउचंद दोशी के प्रति
स्मरणांजलि

परमपूज्य सद्गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के पुनीत पावन सत्संग में आने के पश्चात् श्री जगुभाई के जीवन में बहुत अधिक परिवर्तन आ गया। गुरुगम द्वारा सत्य जैनमार्ग की प्राप्ति से मात्र उनका ही नहीं परन्तु हमारे सबका अर्थात् हमारे समस्त परिवार का जीवन धन्य बन गया। उनके धर्म प्रेम के प्रबल संस्कारों द्वारा तथा पूज्य गुरुदेव के प्रताप से यह सम्भव हुआ है।

श्वेताम्बर जैन संघ में उनका प्रमुख स्थान था। जन समाज में भी वे श्रद्धेय, सन्निष्ठ और सेवाभावी सज्जन के रूप में गिने जाते थे और स्वदेश प्रेमी कार्यकर्ता के रूप में प्रख्यात थे, जिसकी कद्रदानी में जे. पी. का खिताब प्राप्त किया था। सावरकुंडला की अनेक प्रसिद्ध सेवा-संस्थाओं के साथ आप जुड़े हुए थे।

परन्तु सत्य धर्म का स्वरूप समझ लेने के पश्चात् उनके पुरुषार्थ ने परिवर्तन लिया और आत्मा का हित साधने की उन्हें तीव्र उत्कण्ठा जागृत हुई, तब से बाहर की प्रवृत्तियाँ समेटने की ओर उनका लक्ष्य गया। आत्महित के लिये अधिक से अधिक समय सत्समागम में देकर तत्त्वज्ञान का अभ्यास करने में उन्होंने अपने चित्त को जोड़ा था।

पूज्य सद्गुरुदेव संवत् २००६ में सावरकुण्डला पधारे, तब जगुभाई ने खूब उत्साह दर्शाया और उस समय उन्हें ऐसी ऊर्मि जागृत हुई कि सावरकुण्डला में दिगम्बर जैन मन्दिर बने तो कितना बढ़िया हो। परिणामस्वरूप भगवान शान्तिनाथ प्रभु की वीतरागी प्रतिमा विराजमान हुई और संवत् २०१७ में सुन्दर जिन मन्दिर तैयार हो गया और उसमें वेदी प्रतिष्ठा भी हुई। सौराष्ट्र भर में जिनेन्द्र अभिषेक गुरुदेव ने पहली ही बार यहाँ किया और इस प्रकार एक सविशेष कार्य सम्पन्न हुआ।

रुचि पलटने से धीरे-धीरे जगुभाई सोनगढ़ में ही अधिक समय रहने लगे। वहाँ रहकर सत्संग का अधिक से अधिक लाभ लेने लगे तथा संस्था की सेवा में भी जुड़ गये। संस्था की देखरेख समिति के सदस्य के रूप में और जिनमन्दिर की व्यवस्था समिति के अध्यक्षरूप में तथा आत्मधर्म के सम्पादक के रूप में उन्होंने सेवा अर्पित की। इसी समय

में पूज्य गुरुदेव के साथ तीर्थयात्राएँ भी करने का सुयोग उन्होंने प्राप्त किया। परमपूज्य गुरुदेवश्री तथा पूज्य बहिनश्री बेन तथा पूज्य बहिन के प्रति उन्हें बहुत भक्तिभाव था। गम्भीर शारीरिक बीमारी के दौरान इन महात्माओं के वचनामृतों में से वे साता और शान्ति प्राप्त करते थे।

सगे-सम्बन्धी आरोग्य के विषय में पूछते जो जगुभाई कहते — 'यह तो बाहर में पुद्गल नाचता है। रोग जो है, वह देह में है। उसे मिटाने की मुझे चिन्ता नहीं है परन्तु इस प्रसंग ने लाल बत्ती बताकर चेतन को चेता दिया है कि तू तेरा सम्हाल ले... मुझे तो मेरे ज्ञायकस्वभाव का ही शरण लेना है।' और ऐसी भावना उन्होंने देहान्तपर्यन्त बनाये रखी थी।

परम पूज्य सद्गुरुदेवश्री फिर से सावरकुण्डला पधारे, तब पूर्व की अपेक्षा भी अधिक भव्य स्वागत-सम्मान करके पूज्यश्री के प्रति अपनी श्रद्धा-भक्ति व्यक्त करने की जुगभाई की बहुत इच्छा थी, जो अधूरी रह गयी। इसलिए आज पूज्य गुरुदेवश्री के सावरकुण्डला में मंगल पदार्पण के वरद प्रसंग में उनकी भावना को स्मरण करके उनकी ओर से भी हम मंगलमूर्ति गुरुदेव का स्वागत-अभिवादन करते हैं और जगुभाई के माध्यम से हमें जो परम सत्यधर्म तथा देव-गुरु का लाभ सुलभ हुआ है, उसके बदले उनका उपकार मानकर इस पुस्तक द्वारा उन्हें हमारी नम्र श्रद्धांजलि अर्पण करते हैं तथा सत्यधर्म के संस्कार के बल से अपना आत्महित साधकर उनका आत्मा संसार चक्र में से छूटकर मुक्तिपद को प्राप्त करे, ऐसी भावना भाते हैं।

निवेदक

धर्मानुरागी परिवार

अनुपचन्द (भाई)	**अंजवाली (धर्मपत्नी)**	**दलसुख, बसंत**
लहेरचन्द (भतीजा)	**मंगलाबेन (पुत्री)**	**किरीट, धर्मेन्द्र (पुत्र)**
	ब्र. उषाबेन (पुत्री)	

वि.सं. 2026 के चैत्र कृष्ण 1, बुधवार 22-4-1970

सावरकुण्डला

निवेदन

पूज्य पिताजी की भावनानुसार और स्मरणार्थ परमपूज्य गुरुदेवश्री की प्रसादीरूप प्रवचन सागर के मोती पुस्तक प्रकाशित कर जिज्ञासुओं को तथा आत्मधर्म के ग्राहकों को भेंट देना निश्चित किया है।

मुरब्बी श्री रामजीभाई माणेकचन्द दोशी का उपकार मानना विस्मृत किया जा सके, ऐसा नहीं है। पूज्य पिताश्री को उनको प्रति अत्यन्त भक्तिभाव था।

इस पुस्तक के संकलनार्थ अपने अमूल्य समय का भोग प्रदान करने के बदले पण्डित श्री हिम्मतलाल जेठालाल शाह के हम हृदयपूर्वक ऋणी हैं।

आत्मधर्म मासिक इत्यादि लेखों में से चयन करके इस पुस्तक का संकलन किया गया है।

संकलन कार्य में उपयोगी सलाह-सूचना प्रदान करने के बदले भाई श्री खीमचन्दभाई जेठालाल सेठ, श्री उमेदभाई, श्री नागरभाई, ब्रह्मचारी श्री हरिभाई, श्री का. गो. शाह, श्री वीरचन्दभाई इत्यादि सभी का अन्तःकरण से जितना आभार मानें, कम है।

अन्त में अल्प समय में इस पुस्तक का मुद्रण कार्य करने के बदले मैसर्स सुपर प्रिन्ट्स का और मैसर्स साहित्य मुद्रणालय के हम आभारी है।

निवेदक

किरीट जे. दोशी

ॐ

परमात्मने नमः

प्रवचनसार के मोती

परम उपकारी पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के प्रवचनों में से चयनित

हे आत्मा!

तेरे जीवन में उत्कृष्ट वैराग्य के जो प्रसंग बने हों और वैराग्य की सितार जब झनझना उठी हो... ऐसे प्रसंग की वैराग्य धारा को बराबर बनाये रखना, बारम्बार उसकी भावना करना। कोई महान प्रतिकूलता, अपयश आदि उपद्रव के प्रसंग में जागृत हुई तेरी उग्र वैराग्य भावना को अनुकूलता के समय भी बनाये रखना। अनुकूलता में वैराग्य को भूल नहीं जाना।

और कल्याणक के प्रसंगों को, तीर्थयात्रा इत्यादि प्रसंगों को, धर्मात्माओं के संग में हुई धर्मचर्चा इत्यादि कोई अद्‌भुत प्रसंगों को, सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय सम्बन्धी जागृत हुई कोई ऊर्मियों को तथा उनके प्रयत्न के समय धर्मात्मा के भावों को याद करके बारम्बार तेरे आत्मा को धर्म की आराधना में उत्साहित करना।

अध्यात्म-भावना

जिसे आत्मस्वरूप में ही एकत्वबुद्धि हुई है और देहादिक को अपने से भिन्न जाना है—ऐसे अन्तरात्मा को मरण प्रसंग आने पर क्या होता है, वह अब कहते हैं

आत्मन्येवात्मधीरन्यां शरीरगतिमात्मनः।
मन्यते निर्भयं त्यक्त्वा वस्त्रं वस्त्रांतरग्रहम्॥ ७७॥

चैतन्यस्वरूप आत्मा को जानकर उसमें ही जिसने एकत्वबुद्धि की है और देह की गति को-परिणति को अपने से अन्य जाना है—ऐसे धर्मात्मा तो देह छूटने का प्रसंग आने पर भी निर्भय रहते हैं, मैं मर जाऊँगा-ऐसा भय उन्हें नहीं होता। वह तो जैसे एक वस्त्र छोड़कर दूसरा वस्त्र ग्रहण किया जावे, वैसे मरण को भी मात्र देह का रूपान्तर जानते हैं। एक शरीर पलटकर दूसरा शरीर आवे, उन दोनों शरीरों से अपने आत्मा को भिन्न जानते हैं।

धर्मी अन्तरात्मा अपने ज्ञान परिणमन को ही अपना जानता है, शरीर के परिणमन को वह अपना नहीं जानता, उसे तो वह जड़ का परिणमन जानता है। शरीर की उत्पत्ति, बाल-युवा-वृद्ध अवस्था या मरण, इन सबसे मैं भिन्न हूँ, ऐसा मैं तो ज्ञानस्वरूप हूँ; शरीर छूटने से मेरा ज्ञान नहीं छूटता; इसलिए मेरा मरण नहीं है, ऐसे भान में धर्मात्मा को मरण का भय नहीं है। एक शरीर बदलकर दूसरा शरीर आया, वहाँ मुझे क्या? मैं तो शाश्वत्रूप से रहनेवाला ज्ञानस्वरूप ही हूँ।

जैसे वस्त्र पलटने से मनुष्य दु:खी नहीं होता; उसी प्रकार शरीर को वस्त्र की भाँति अपने से भिन्न जाननेवाले ज्ञानी को शरीर पलटने से दु:ख नहीं होता। अभी तो यह शरीर यहाँ भड़-भड़ सुलगता हो, उससे पहले तो आत्मा स्वर्ग में उत्पन्न हो गया होता है। इस शरीर की क्रियाओं का स्वामीपना आत्मा को नहीं है, ऐसी पहले से ज्ञानी ने देह की भिन्नता जानी है। मेरे विविध परिणाम के कारण शरीर की विविध परिणति होती है, ऐसा धर्मी नहीं मानता। धर्मी तो ज्ञान परिणाम को ही अपना कार्य जानता है, अर्थात् कि वह ज्ञातारूप ही रहता है।

इस शरीर के साथ एक क्षेत्र में रहनेरूप निकट सम्बन्ध होने पर भी, आत्मा से वह अत्यन्त भिन्न है। देह का कार्य देह करती है और आत्मा का कार्य आत्मा करता है—ऐसा ज्ञानी दोनों के कार्यों को भिन्न-भिन्न देखता है। अज्ञानी तो 'मैं बोला, मैं चला'—ऐसे आत्मा और शरीर दोनों के कार्यों को एकरूप ही देखता है। धर्मात्मा जानता है कि शरीर और संयोग, वे सब मुझसे भिन्न हैं, वे सब यहाँ पड़े रहेंगे; मेरे साथ एक भी कदम नहीं आयेंगे; मेरे श्रद्धा-ज्ञान-आनन्द ही मेरे साथ सदा रहनेवाले हैं—ऐसे भानपूर्वक धर्मी श्रद्धा-ज्ञान को साथ में ले जाता है अर्थात् समाधिमरण करता है। शरीर के त्याग-ग्रहण को वह वस्त्र के त्याग-ग्रहण की भाँति जानता है। जिस प्रकार झोंपड़ी के नाश से मनुष्य मर नहीं जाता; उसी प्रकार इस शरीररूपी झोंपड़ी के नाश से कहीं आत्मा का नाश नहीं होता। ऐसा भेदज्ञान करके ज्ञानस्वरूप आत्मा की भावना जिसने भायी है, ऐसे धर्मात्मा को मरण प्रसंग में भी समाधि ही रहती है।

प्रभो! एक बार दृष्टि की गुलाँट मारकर अन्तर में ऐसे चैतन्यस्वभाव पर नजर कर। यह देह और संयोग कोई तुझे शरण नहीं देंगे, इसलिए इनकी दृष्टि छोड़ और शरणभूत ऐसे चैतन्य को ही दृष्टि में ले... तो तुझे चाहे जिस क्षण चैतन्य की शरण से समाधि ही रहेगी।

आत्महित के लिये वैराग्यरस से भरपूर उपदेश

'दौल' समझ सुन चेत सयाने काल वृथा मत खोवै;
यह नरभव फिर मिलन कठिन है, जो सम्यक् नहीं होवै।

(छहढाला, तीसरा ढाल, दोहा 17)

भाई! तू अनन्त बार मनुष्यभव को प्राप्त हुआ परन्तु आत्मा के भान बिना व्यर्थ गँवाया; युवावस्था में विषयवासना में और धन में ऐसा मोहित हुआ कि दूसरा कुछ सूझता ही नहीं! इस प्रकार कीमती काल पाप में गँवाया। यद्यपि आत्मा का हित करना चाहे तो जवानी में भी किया जा सकता है, परन्तु यह तो जो दरकार नहीं करते, ऐसे जीवों की बात है। अनन्त बार आत्मा की दरकार बिना जवानी पाप में गँवायी, इसलिए इस अवसर में आत्मा की दरकार करना—ऐसा उपदेश है।

मनुष्य जन्म की जवानी का काल, वह तो धर्म की कमाई का वास्तविक समय है, ऐसे समय में विषय कषायों में डूबकर रत्नचिन्तामणि जैसा अवतार गँवा डालता है! भाई! इस मनुष्यपने की एक-एक घड़ी महा कीमती है, लाखों-करोड़ों रुपये देने पर भी इसकी एक घड़ी मिले, ऐसा नहीं है। छोटा हो तो गेंद उड़ाने में समय व्यतीत करता है और बड़ा हो तो पैसे कमाने में समय चला जाता है। परन्तु भाई! तेरे जीवन की गेंद उड़ जाती है और तेरे आत्मा की कमाई चूक जाती है, इसकी कुछ दरकार है? ऐसा अवसर व्यर्थ गँवाने योग्य नहीं है।

वृद्धावस्था कब आ जाती है, इसकी खबर भी नहीं पड़ती; वृद्धावस्था होने पर अर्धमृतक जैसी दशा हो जाती है। देह में अनेक रोग हों, हलन-चलन नहीं हो सके, खाने-पीने में पराधीनता हो, इन्द्रियाँ काम करे नहीं, आँखों से पूरा दिखाई न दे, स्त्री-पुत्रादि भी कहना नहीं मानें और दृष्टि तो इन सब संयोगों पर ही पड़ी, इसलिए मानो कि जीवन हार गया - ऐसा वह जीव दु:खी-दु:खी हो जाता है। परन्तु बाल-युवा-वृद्ध-इन तीनों अवस्थाओं से भिन्न अपने चैतन्यस्वरूप को यह मोही जीव नहीं जानता और आत्मा के भान बिना मनुष्यपना दु:ख में ही गँवाता है।

वृद्धावस्था में भी आत्मा का कल्याण करना चाहे तो कर सकता है।—'यह तो जब जागे, तभी सबेरा।' पूर्व काल में तो बहुत जीव, शरीर में सफेद बाल देखते ही वैराग्य को पाकर दीक्षा ले लेते थे, ऐसे प्रसंग बनते थे परन्तु अभी देह से भिन्न आत्मा का ज्ञान भी जहाँ न हो, वहाँ दीक्षा कहाँ से ले? चैतन्य की श्रद्धा चूककर देह की अनुकूलता में ही मूर्च्छित हो गया और प्रतिकूलता आवे, वहाँ दु:ख के ढ़ेर में मानो दब गया। संयोग से भिन्न जीव दिखता ही नहीं। ऐसे जीव जिन संयोग में रहे, उनसे 'दूसरे की अपेक्षा मैं कुछ अधिक हूँ'—ऐसा दिखाने के लिये व्यर्थ प्रयत्न करते हैं, संयोग से अधिकता मानते हैं परन्तु 'लक्ष्मी बढ़ी अधिकार भी पर बढ़ गया क्या बोलिये?' भाई! संयोग बढ़ने से तेरे आत्मा में क्या बढ़ गया? भैंसा और हाथी का शरीर बहुत मोटा होता है, इससे क्या उसके आत्मा की अधिकता हो गयी? नहीं; आत्मा की अधिकता तो ज्ञानस्वभाव द्वारा है। मेरा आत्मा ज्ञानस्वभाव के कारण दूसरे सबसे अधिक है, राग से भी वह अधिक है। अधिक है अर्थात् भिन्न है—ऐसी जिसने आत्मा की अधिकता न जानी, वे जीव शरीर से, कीर्ति से, धन से, कुटुम्ब से, मकान से, पदवी से, आवाज की मधुरता से और शुभराग से—इस प्रकार बाहर से अपनी अधिकता मानते हैं।

अहो! ज्ञानस्वभावी आत्मा सम्पूर्ण विश्व से अधिक है। ज्ञानस्वभाव की तुलना में आवे, ऐसा विश्व में कोई नहीं है; इसलिए हे जीव! तू आत्मा की कीमत कर और दूसरे की कीमत छोड़। शरीर-पैसा इत्यादि संयोग का मोह छोड़। दूसरे के पास अधिक संयोग देखकर उसकी जलन छोड़;—'इसके पास बहुत और मेरे पास थोड़ा'—ऐसी जलन से देव भी दु:खी होते हैं—यह बात देवगति के दु:ख में कहेंगे।

देह में मूर्च्छित जीव अपने सच्चे रूप को किस प्रकार पहिचाने?—जैसे बालपने में तो कुछ ज्ञान नहीं, जवानी विषयों में गँवाता है और वृद्धावस्था में अर्द्धमृतक हो जाता है। इस प्रकार देहबुद्धि में अपना जीवन गँवानेवाले जीव आत्मा का स्वरूप किस प्रकार पहिचाने? **कैसे रूप लखै अपनौ?** ऐसा कहकर सम्यग्दर्शन की बात ली है। सम्यग्दर्शन पाना अर्थात् अपना स्वरूप जानना, वही हित का उपाय

है, वही वीतराग-विज्ञान है, वही सन्त-गुरुओं की शिक्षा है तथा उसमें ही मनुष्यभव की सार्थकता है। यहाँ शुभराग की बात नहीं की, इसलिए **कैसे रूप लखै अपनौ**— ऐसा कहा, परन्तु **कैसे करे शुभराग**—ऐसा नहीं कहा, क्योंकि वह तो अनन्त बार किया। शुभराग किया, तब तो यह मनुष्य हुआ; इसलिए वह कोई अपूर्व चीज़ नहीं है, परन्तु अपना रूप जाना नहीं, सम्यग्दर्शन किया नहीं, इसलिए अपना रूप लखना-अनुभव करना, वह अपूर्व चीज़ है, उसमें ही जीव का हित है।

मोह छोड़कर अपना स्वरूप जानना चाहे तो वह चाहे जब जान सकता है। परन्तु मोह से जो बाहर में ही लगा रहे, वह अपने निजस्वरूप को कहाँ से देखे? भाई! अभी ऐसा अवसर तुझे मिला है तो आत्मा के हित के लिये समय निकाल। मरते हुए तो यह सब यहीं पड़ा रहेगा, इसलिए जीते जी इसका मोह छोड़कर आत्मा का स्वरूप पहिचानने का उद्यम कर।

'अभी कमाई कर लें, पश्चात् वृद्धावस्था में निवृत्ति लेकर आत्मा का कुछ करेंगे!' ऐसा कोई कहता है। परन्तु भाई! वृद्धावस्था आयेगी ही, ऐसा कहाँ निश्चित है? बहुत से जीव युवावस्था में ही आयुष्य पूरा होने पर फू... होकर चले जाते हैं— ऐसे प्रसंग तो नजरों से दिखाई देते हैं, तो फिर वृद्धावस्था का क्या भरोसा? अभी युवावस्था के समय तू ऐसा कहता है कि वृद्धावस्था में करूँगा, परन्तु जब वृद्धावस्था में शक्तियाँ क्षीण हो जाएंगी, तब तुझे पश्चाताप होगा कि अरे! जवानी में समय था, तब आत्मा की कुछ दरकार नहीं की। इसलिए वायदा करना छोड़कर अभी से ही आत्मा का हित हो, ऐसा उद्यम कर।

बाहर के संयोग की सुविधा में तुझे अपनी व्यवस्थितता लगती है,—परन्तु भाई! बाहर के संयोग में तू है ही कहाँ? तेरा रूप तो उससे भिन्न है, तू तो ज्ञानरूप है, तेरे सच्चे रूप को तू पहिचान। 'मैं कौन हूँ? कहाँ से आया? मेरा क्या स्वरूप है?'—इसका शान्ति से विचार कर।

रे जीव! एकेन्द्रिय से असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक तुझे विचार करने की शक्ति ही

नहीं थी, अब अभी विचार करने की शक्ति विकसित हुई है तो आत्मा के हित का विचार करके उसका सदुपयोग कर। बहुत से जीव तो मनुष्य होने पर भी इतनी अधिक मन्दबुद्धिवाले होते हैं कि मूढ़ जैसे ही रहते हैं; किसी को थोड़ी-बहुत बुद्धि होती है तो बाहर के कार्यों के तीव्र अभिमान के कारण बुद्धि को उसमें ही रोकते हैं, आत्मा के हित के लिये बुद्धि का उपयोग नहीं करते। पैसा कैसे कमाना, उसमें बुद्धि प्रयोग करते हैं। (यद्यपि पैसा तो पुण्य अनुसार मिलता है), परन्तु आत्मा के हित की कमाई कैसे हो, उसमें बुद्धि प्रयोग नहीं करते और आत्मा के हित का विचार किये बिना महँगा मनुष्य जीवन गँवा डालते हैं।

अरे! ऐसा महँगा जीवन मात्र धन में, स्त्री में या राजपाट में गँवा डालने के लिये नहीं होता; उसमें तो आत्मा के हित का विचार करना कि जिससे पुनः इस संसार में ऐसे दुःख भोगना न पड़े। इस प्रकार विचारकर तेरे आत्मा को मोक्षपन्थ में जोड़। तेरे चैतन्यप्रभु को तूने कभी नहीं देखा। तो अब अभी उसे देख। चैतन्य के दर्शन का—सम्यग्दर्शन का यह अवसर है।

देखण दे रे... सखी देखण दे... चन्द्रप्रभु मुख चन्द्र...
सखी मने देखण दे...

मुमुक्षु अपने चैतन्य प्रभु के दर्शन की तीव्र भावना भाता है कि अरे! एकेन्द्रिय से असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक में मैंने कभी मेरे चैतन्य प्रभु को नहीं देखा, क्योंकि उस समय तो देखने की शक्ति ही नहीं थी। परन्तु अब इस मनुष्यपने में चैतन्यप्रभु को देखने का अवसर आया है, इसलिए हे चेतना सखी! मुझे मेरे चैतन्य प्रभु के दर्शन करा। 'देखण दे रे सखी, देखण दे रे...'

स्वयं अपने चैतन्य प्रभु को देखने की दरकार ही जीव कहाँ करता है ? निवृत्त हो, कुछ काम न हो तो भी कुछ धर्म के वाँचन-विचार के बदले व्यर्थ में पर की चिन्ता किया करता है; धन की चिन्ता, शरीर की चिन्ता, स्त्री-पुत्र की चिन्ता, देश की चिन्ता—ऐसे पाररहित पर की चिन्ता में जीव व्यर्थ काल गँवाता है परन्तु आत्मा के हित की चिन्ता नहीं करता। पर की चिन्ता तो व्यर्थ है, क्योंकि पर की चिन्ता

प्रमाण तो कुछ पर में होता नहीं। टी.बी. (क्षय) हो, पक्षघात हो और खबर पड़े कि अब इस बिस्तर में से उठकर कभी दुकान जा नहीं सकूँगा, तथापि बिस्तर में सोते-सोते आत्मा के विचार नहीं करता परन्तु घर के, दुकान के या शरीरादि के विचार किया करता है और पाप के पोटले बाँधकर दुर्गति में जाता है। निवृत्त हो, तब पर की चिन्ता करता है, उसके बदले आत्मा की चिन्ता करे तो कौन रोकता है? कोई नहीं रोकता, परन्तु उसे स्वयं को दरकार ही कहाँ है? अरे रे! अभी इसे भवदु:ख की थकान नहीं लगती! भाई! इस मनुष्यपने में भी नहीं चेते तो फिर कब चेतेगा?

'दौल' समझ सुन चेत सयाने काल वृथा मत खोवै;
यह नरभव फिर मिलन कठिन है, जो सम्यक् नहीं होवै।

卐 ❀ 卐

थोड़ा सहन करना सीख

भाई! यह तेरे नरकादि दु:खों की कथा, तुझे उनसे छूटने के लिए सुनायी जा रही है। स्वयंभूरमण समुद्र का पानी, जो असंख्य योजन में विस्तरित है और स्वाद में मधुर है, वह सारा पानी पी जाने पर भी जहाँ प्यास नहीं बुझेगी, इतनी तो जिनकी तृषा है परन्तु पीने के लिए पानी की एक बूँद भी नहीं मिलती; असह्य तृषा से वे नारकी पीड़ित रहते हैं। चैतन्य के शान्तरस के बिना उनकी तृषा कैसे मिटेगी? जब अवसर था, तब तो चैतन्य के शान्तरस का पान नहीं किया और उससे विरुद्ध अनन्त क्रोधादि कषायरूप अग्नि का सेवन किया, तो बाहर में तीव्र प्यास के दु:ख में वे जीव जल रहे हैं। मुनिवर तो चैतन्य के उपशमरस में ऐसे लीन होते हैं कि पानी पीने की वृत्ति भी छूट जाती है। यहाँ तो थोड़ा बीमार पड़ा हो और पानी आने में थोड़ी देर हो जाए तो क्रोधित हो उठता है कि 'सब कहाँ मर गये? कोई पानी क्यों नहीं देता?' परन्तु भाई! जरा धीरज रखना सीख, थोड़ा सहन करना सीख। नरक में तुझे कौन पानी पिलानेवाला था? पानी का नाम लेते ही मुँह में उबलता रस डाला जाता था। यह सब भूल गया क्या?

- पूज्य गुरुदेवश्री, छहढाला प्रवचन १/११

मृत्युंजय

ज्ञानी वास्तव में मृत्युंजय है अर्थात् उन्होंने मृत्यु को जीत लिया है। ज्ञानी को मरण का भय नहीं है, क्योंकि आत्मा कभी मरता ही नहीं। आत्मा तो अपने चैतन्यप्राण से सदा जीवन्त ही है। ऐसे आत्म-जीवन को जहाँ नि:शंकरूप से जाना, वहाँ मरण का भय कहाँ से होगा?

जिसे देह में आत्मबुद्धि है, ऐसा अज्ञानी जीव, देह में या संयोग में किंचित् फेरफार होने पर 'हाय... हाय! अब मैं मर जाऊँगा, देह के बिना और राग के बिना मेरा आत्मा जी नहीं सकेगा।'—इस प्रकार मरण से भयभीत रहता है। ज्ञानी ने तो अपने आत्मा को देह से अत्यन्त भिन्न ही जाना है और राग से भी पर अनुभव किया है, इसलिए देह छूटने के प्रसंग में उसे मरण का भय नहीं होता। जहाँ मेरा मरण ही नहीं, वहाँ भय किसका?

वन-जंगल में सन्त मुनि आत्मध्यान में बैठे हों और वहाँ बाघ का झुण्ड आकर उनको घेर डाले या बम के गोले बरसें तो भी मुनि भयभीत नहीं होते कि यह बाघ का झुण्ड या यह बम वर्षा मेरा नाश करेगी। 'मैं तो अरूपी ज्ञानस्वरूप हूँ, मेरा ज्ञान अबध्य है-किसी से घात नहीं किया जा सकता, इसलिए यह बाघ का झुण्ड या बम का गोला मेरा नाश करने में समर्थ नहीं है।'—ऐसे नि:शंक वर्तते हुए ज्ञानी निर्भयरूप से अपने ज्ञानस्वरूप को साधकर सिद्ध होते हैं।

श्रीगुरु जीवों को सुखकर उपदेश देते हैं

जे त्रिभुवन में जीव अनन्त, सुख चाहें दुःख से भयवन्त।
तातैं दुःखहारी सुखकार कहें सीख गुरु करुणाधार॥

— छहढाला, पहली ढाल, छन्द एक

तीन लोक में सार वीतराग विज्ञान है—ऐसा बताकर अब वह वीतराग विज्ञान प्रगट करने का उपदेश देते हैं। तीन लोक में जो अनन्त जीव हैं, वे सुख को चाहते हैं और दुःख से डरते हैं, इसलिए उन्हें सुख कैसे हो और दुःख कैसे मिटे? —ऐसे मोक्षमार्ग का हितकारी उपदेश करुणाधारी श्रीगुरु देते हैं। मोक्षमार्ग कहो या वीतरागी विज्ञान कहो, उसके द्वारा ही जीवों को सुख होता है और दुःख मिटता है। इसलिए ज्ञानी गुरुओं ने करुणा करके जीवों को उसकी शिक्षा दी है, उसका उपदेश दिया है।

अरे! जीव अज्ञानभाव से चार गति के दुःखों में तड़प रहे हैं। ज्ञानी स्वयं पूर्व में अज्ञानदशा में ऐसा दुःख भुगत चुके हैं और आत्मा का सच्चा सुख भी उन्होंने चखा है। इसलिए जगत के जीवों के प्रति उनको प्रशस्त करुणा आती है कि अरे! अज्ञान के इन घोर दुःखों से जीव छूटें और सच्चा आत्मसुख प्राप्त करें। ऐसी करुणा से दुःख का कारण जो मिथ्यात्व है, उसे छोड़ने का और सुख का कारण जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है, उसे अंगीकार करने का उपदेश दिया है। तेरा कल्याण चाहता हो तो हे जीव! तू इस उपदेश को स्थिर मन से सुन।

देखो तो सही, सन्तों की करुणा! प्रवचनसार में भी कहते हैं कि 'परम आनन्दरूपी सुधारस के पिपासु भव्य जीवों के हित के लिये... यह टीका की जाती है।' जिन्हें अतीन्द्रिय आनन्दरस की प्यास लगी है, ऐसे जीव को यह अतीन्द्रिय आनन्द का स्वरूप इस प्रकार से समझाते हैं कि समझने पर अपूर्व आनन्दसहित सम्यग्दर्शन होता है।

परमात्मप्रकाश की उत्थानिका में भी प्रभाकर शिष्य श्रीगुरु से प्रार्थना करता

है कि हे स्वामी! इस संसार में भ्रमते-भ्रमते मेरा अनन्त काल व्यतीत हो गया परन्तु मैंने किंचित् भी सुख नहीं पाया, महादु:ख ही पाया। अनन्त बार उत्तम कुल इत्यादि सामग्री प्राप्त हुई, तथापि मैंने जरा भी सुख नहीं पाया, स्वर्ग में भी मुझे सुख नहीं मिला, वीतरागी परमानन्द सुख का स्वाद मैंने कभी नहीं चखा। इस प्रकार अपने भाव निर्मल करके शिष्य विनय करता है कि हे गुरु! इन चार गति के दु:ख से संतप्त ऐसे मुझे, प्रसन्न होकर आप कोई ऐसा परमात्मतत्त्व बताओ कि जिसे जानने से चार गति के दु:खों का नाश हो और आनन्द प्रगट हो। तब श्रीगुरु कहते हैं कि ऐसा स्वरूप मैं तुझे कहता हूँ, उसे '**निसुणि तुहुँ**' तू सुन। इस प्रकार जो जीव अन्दर से चोट डालता हुआ जिज्ञासु होकर आया है, उसके लिये यह हित का उपदेश है।

चार गति के कुल अनन्त जीव हैं। मनुष्य में संख्यात हैं, नरक में असंख्यात हैं, देवलोक में असंख्यात हैं और तिर्यंच में अनन्त हैं। तिर्यंच में दो इन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक के जीव तो असंख्यात ही हैं परन्तु एकेन्द्रिय जीव अनन्त हैं। मिथ्यात्व के कारण वे सभी जीव दु:ख से तो डरते हैं और सुख को ही चाहते हैं, परन्तु वह सुख कहाँ है और कैसे प्रगट हो? इसका उपाय नहीं जानते। दु:ख क्यों है और कैसे मिटे? इसकी उन्हें खबर नहीं है, इसके लिए बाहर ही बाहर में मिथ्या प्रयत्न करते हैं। परन्तु उन बाहर के उपायों से उनका दु:ख मिटता नहीं और सुख होता नहीं। इसलिए उन जीवों पर करुणा करके दु:ख से छूटने का उपाय सन्तों ने बताया है। हे जीव! तेरा मिथ्यात्वभाव ही तुझे दु:ख का कारण है, अर्थात् तेरी भूल से ही तू दु:खी है। सच्चे भेदज्ञान द्वारा उस भूल को मिटा और सम्यक्त्व आदि प्रगट कर, यही सुखी होने का उपाय है।

हे जीव! तेरे दोष से तुझे बन्धन है—यह सन्त की पहली शिक्षा है। तेरा दोष इतना है कि पर को अपना मानना और स्वयं अपने को भूल जाना।

देखो न! सुख के लिये जगत के जीव कैसे झपट्टे मारते हैं! मानो रुपये में से सुख ले लूँ! मानो रूपवान शरीर में से या बँगले में से सुख ले लूँ! इस प्रकार बाहर में मिथ्या प्रयत्न करते हैं। अरे! घरबार छोड़कर, शरीर को भी छोड़कर

(–अपघात करके भी) सुखी होना और दु:ख से छूटना चाहते हैं। भले ही उसके ये उपाय सच्चे नहीं हैं, परन्तु इतना तो निश्चित होता है कि जीव सुख को चाहते हैं और दु:ख से छूटना चाहते हैं।

सुख को कौन नहीं चाहेगा? सुख को न चाहे वे या सिद्ध-वीतराग, या नास्तिक और या जड़ होगा! एकेन्द्रियादि जीवों को भले मन या विचार शक्ति नहीं है, तथापि अव्यक्तरूप से भी वे सुख को ही चाहते हैं। इस प्रकार जगत के अनन्त जीवों को सुख की ही चाहना है और दु:ख का त्रास है। इसलिए सुख को चाहते होने पर भी, सच्चा सुख किसे कहा जाता है और वह सुख किस उपाय से प्रगट होता है, उसे नहीं जानते।

श्रीमद् राजचन्द्र भी आत्मसिद्धि में कहते हैं कि—

कोई क्रियाजड़ हो रहे, शुष्क ज्ञान में कोई;
माने मारग मोक्ष का, करुणा उपजे जोई।

आत्मसिद्धि, काव्य 3

अरे! बाह्य क्रिया में और बाहर के शुष्क जानपने में जीव धर्म अर्थात् मोक्षमार्ग मान रहे हैं, वह देखकर ज्ञानी को करुणा उपजती है। इसलिए उन्होंने जगत को सच्चा मोक्षमार्ग समझाया है। दु:ख क्यों है? कि 'जो स्वरूप समझे बिना पाया दु:ख अनन्त।' भाई! तेरे आत्मा का स्वरूप नहीं समझने से तू अनन्त दु:ख पाया। वह स्वरूप श्रीगुरु तुझे समझाते हैं। उसे समझ तो तेरा दु:ख मिटेगा और तुझे परम आनन्द होगा। (समझाया उन पद नमूँ श्री सद्गुरु भगवन्त)।

जो जीव गरजवान होकर आया है, अपने हित के लिये धर्म का जिज्ञासु होकर आया है—ऐसे जीवों के लिये यह बात है। जिसे अपने हित की कुछ दरकार ही न हो—ऐसे जीवों का तो क्या कहना? पण्डित टोडरमलजी मोक्षमार्गप्रकाशक में कहते हैं कि जो धर्म का लोभी हों, धर्म समझने का गरजवान हों, ऐसे जीवों को आचार्य धर्मोपदेश देते हैं। आचार्य मुख्यरूप से तो निर्विकल्प स्वरूपाचरण में ही

निमग्न हैं, परन्तु कदाचित् धर्मलोभी इत्यादि अन्य जीवों को देखकर राग के उदय से करुणाबुद्धि हो तो उन्हें धर्मोपदेश देते हैं। आहा! इन सन्तों का मुख्य काम तो स्वरूप में लीन होकर परमानन्द को साधने का है, परन्तु कभी विकल्प उठने पर धर्मोपदेश देते हैं।

अरे! ऐसे उपदेशदाता गुरु का योग मिलने पर भी जो जीव उस उपदेश को नहीं सुने, उसे तो आत्मा की दरकार ही नहीं है। उसे संसार के दु:ख की अभी थकान नहीं लगी है। यहाँ तो संसार से थककर आत्मा की शान्ति लेना चाहता हो, ऐसे जिज्ञासु जीवों के लिये बात है।

देह से भिन्न आत्मा को जाननेवाले और राग से भिन्न आनन्द को अनुभव करनेवाले ऐसे वीतरागी मुनि—कि जो रत्नत्रय के धारक हैं, मोक्ष के साधक हैं, तीन कषाय की चौकड़ी का जिनके अभाव है और प्रचुर वीतरागी स्वसंवेदन जिन्हें वर्तता है, ऐसे गुरु करुणा करके चौरासी लाख योनि के दु:खी जीवों के लिये हित की शिक्षा अर्थात् सीख—उपदेश देते हैं। कैसा उपदेश देते हैं? कि दु:ख का नाश करनेवाला और सुख की प्राप्ति करानेवाला।

इस शास्त्र में और सर्व वीतरागी शास्त्रों में आत्मा को सुख देनेवाला और दु:ख से छुड़ानेवाला ऐसा उपदेश दिया है। सन्तों का उपदेश, सन्तों की शिक्षा यह है कि जिससे विकार का—दु:ख का नाश हो और सुख की प्राप्ति हो। विकार, वह दु:ख है और उसके नाश का उपदेश है अर्थात् निर्विकारदशा प्रगट करने का उपदेश है। राग के नाश का उपदेश है और वीतरागभाव प्रगट करने का उपदेश है। ऐसा उपदेश, वह इष्टोपदेश है। इष्ट-उपदेश अर्थात् हित का उपदेश, प्रिय उपदेश। उस उपदेश की समझ का फल यह है कि भेदविज्ञान होकर दु:ख का नाश हो और सुख का अनुभव प्रगट हो। जीव को यही इष्ट है, यही प्रयोजन है, यही सार है। इसका अर्थ यह हुआ कि प्रथम मंगलरूप से जो वीतरागविज्ञान को वन्दन किया, वह वीतरागविज्ञान उत्पन्न करने का उपदेश जैनधर्म के चारों अनुयोग में आया है। चारों अनुयोग वीतरागविज्ञान के ही पोषक हैं, उसे हे भव्यों! तुम प्रीतिपूर्वक सुनो।

संसार में भ्रमते-भ्रमते अनन्त काल से महँगा ऐसा संज्ञीपना जिसे प्राप्त हुआ है और उसमें भी आत्महित की शिक्षा समझनेयोग्य विचारशक्ति जिसे खिली है अर्थात् उस प्रकार की ज्ञान की ताकत है तथा समझने की जिज्ञासा है, ऐसे जीवों को यह उपदेश श्रीगुरु करुणापूर्वक सुनाते हैं।

दु:ख का नाश, सुख की प्राप्ति—बस, इसमें मोक्षमार्ग आ गया। जिनवाणी, दु:ख का कारण ऐसे मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र का नाश कराती है और सुख का कारण ऐसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को प्रगट कराती है। जिस भाव से दु:ख का नाश न हो और सुख का अनुभव न हो, उस भाव को भगवान धर्म नहीं कहते, मोक्षमार्ग नहीं कहते और ऐसे भाव का सेवन करने का जिसमें कहा हो, वह उपदेश सच्चा नहीं, हितकर नहीं, इष्ट नहीं। सन्तों ने तो जिससे जीव का भला हो, ऐसे वीतरागविज्ञान की ही शिक्षा दी है, उसे ही धर्म कहा है।

तीन लोक में किसी भी जीव को दु:ख रुचता नहीं है। दु:ख से सभी जीव डरते हैं। क्या निगोद के जीव भी दु:ख से डरते हैं? हाँ, अव्यक्तरूप से वे भी दु:ख से छूटना ही चाहते हैं। प्रत्येक जीव का स्वभाव ही ऐसा है कि सुख ही उसका स्वरूप है और दु:ख उसका स्वरूप नहीं है। किसी समय अपमान इत्यादि के दु:ख के कारण शरीर छोड़कर भी वह दु:ख से छूटकर सुखी होना चाहता है, शरीररहित अकेला रहकर भी दु:ख से छूटना चाहता है, इसलिए सिद्ध होता है कि शरीररहित अकेला आत्मा सुखी रह सकता है, क्योंकि आत्मा स्वयं सुखस्वरूप है। 'अरे! ऐसे दु:ख की अपेक्षा तो मर जाना अच्छा'—इस प्रकार मरण की अपेक्षा भी दु:ख असह्य लगता है। दु:ख से छूटने के लिये मरण को भी गिनता नहीं। इस प्रकार जीव को दु:ख नहीं रुचता, इसलिए शरीर छोड़कर भी दु:ख से छूटना चाहता है और इसीलिए अव्यक्तरूप से ऐसा सिद्ध होता है कि आत्मा में देह बिना सुख है। यदि देहातीत आत्मा को अपने में देखे तो अवश्य सुख अनुभव में आवे। परन्तु आत्मा का सच्चा भान नहीं करता, इसलिए अपना सुख अपने अनुभव में नहीं आता।

अन्दर अपमान इत्यादि का तीव्र दु:ख लगे और समाधान न कर सके,

अनुत्तीर्ण हुआ हो, धन्धे में बड़ा नुकसान हुआ हो या देह की तीव्र पीड़ा सहन न होती हो–ऐसे प्रसंग में कोई जीव विचार करता है कि अरे रे! अब जहर खाकर इस दु:ख से छूटूँ। देखो तो सही! जहर खाना सरल लगता है परन्तु दु:ख सहन करना; कठिन लगता है!

भाई! देह छोड़कर भी वास्तव में यदि तू सुखी होना चाहता हो और तुझे दु:ख से छूटना हो तो उसका सच्चा मार्ग ले। देह से भिन्न ज्ञानस्वरूप आत्मा क्या चीज़ है, उसकी पहिचान करके वीतरागविज्ञान प्रगट करना, वही सच्चा उपाय है। यहाँ वह उपाय सन्त तुझे बतलाते हैं, उसे सावधान होकर सुन।

'आत्मभ्रान्ति सम रोग नहीं, सद्गुरु वैद्य सुजान।' अरे! देह के रोग की पीड़ा से छूटना चाहता है, परन्तु भाई! आत्मभ्रान्तिरूपी रोग का महान दु:ख है, उससे छूटने का उपाय कर। इसलिए वीतरागविज्ञान का उपदेश देनेवाले सद्गुरु को सच्चा वैद्य जान।

卐 ❁ 卐

सम्बोधन

हे जीव!

तेरे जीवन में तूने जो आत्मध्येय निश्चित किया है, उस ध्येय को साधने के लिये तू निवृत्तिपूर्वक सत्संग सेवन कर रहा है, उस उत्तम ध्येय को एक पल भी तू भूल मत, उस ध्येय को शिथिल न होने दे... अति-अति उद्यम द्वारा उत्साह से ध्येय को सिद्ध कर।

अन्तरात्मा के प्रति

अहो! शान्तमूर्ति अन्तरात्मा! तू तुझसे ही प्रसन्न रह, कोई अन्य तुझे प्रसन्न रखेगा, ऐसी व्यर्थ आशा छोड़ दे।

तू स्वयं तुझे पूर्ण स्वरूप में नहीं लावे तो अन्य कोई तुझे क्या दे देनेवाला है? जिनको किसी के प्रति राग और द्वेषभाव नहीं है, उनसे माँगना भी क्या? और जो स्वयं ही राग और द्वेषभाव से आकुलित हो रहे हैं, ऐसे बेचारे अन्य का क्या हित करेंगे? इसलिए—

हे सहज पूर्ण आनन्दी अन्तरात्मा! अपूर्णता छोड़। जगत स्वयं से पूर्ण है, तू तुझसे पूर्ण स्वरूप में आ जा। शीतल शान्त ज्ञानस्वभाव से तू भरपूर है, उसमें बाह्यवृत्ति से मोझाओ उपाणी डोलत लाने की आदत छोड़।

हे शुभ भावनाओं! तुमने अशुभ की जगह तो भर दी, परन्तु मुझे तो तुम्हारी भी आवश्यकता नहीं है। 'मैं मेरे ज्ञायकभाव में समा जाता हूँ और तुमसे भी निवृत्त होता हूँ, पृथक् पड़ता हूँ।'

हे पूर्व कर्मोदय! तुमने भी सत्ता में रहना बन्द किया है और उदय में आना चालू रखा है तो वह भी तुम्हारा उपकार ही है कि मुझे तत्काल पृथक् हो जाने में सहायभूत बनते हो, क्योंकि मेरा स्वरूप तुमसे भिन्न है, ऐसा मैंने जान लिया है।

हे आत्मा! बाह्य जंगल या वन में भी शान्ति नहीं है। इसलिए अन्तररूपी जंगल में तेरे सहज ज्ञानानन्दरूपी फूल की अनुभवनीय सुवास लेकर स्वाधीन हो जा। बाहर में कहीं भी स्वाधीनता नहीं मिलेगी।

हे जीव! संसार में रहकर तू इष्ट-अनिष्ट संयोगों के प्रति हर्ष या खेदभाव रखता है, तो क्या तुझमें असंसारभावना को प्रबल करके परम आनन्दमय नहीं बन सकता?

यदि दूसरे भाव से कुछ लाभ नहीं होता, ऐसा ज्ञात हो तो एक स्वभावभाव से जितना लाभ लिया जाए, उतना ले। उसमें कभी न्यूनता नहीं आवे, ऐसा दृढ़ विश्वास रखकर समय व्यतीत किये जा।

आयुष्य आत्मा का नहीं है, कर्म का है। कर्म आत्मा के नहीं हैं, पुद्गल के हैं। तू स्वद्रव्य में रह जा, सब परद्रव्य अपना-अपना सम्हाल लेंगे। अचिन्त्य आत्म-स्वरूप सहज सुगमता से पा चुके हे सिद्ध भगवन्तो! आपको कोटि-कोटि प्रणाम!!!

卐 ❀ 卐

एक बार हाँ तो पाड़!

हे जीव! हे प्रभु! तू कौन है, इसका कभी विचार किया है? कहाँ तेरा निवास है और कहाँ तेरा कार्य, इसकी तुझे खबर है? प्रभु! विचार तो सही कि तू कहाँ है और यह सब क्या है? तुझे शान्ति क्यों नहीं है?

प्रभु! तू सिद्ध है, स्वतन्त्र है, परिपूर्ण है, वीतराग है, परन्तु तुझे तेरे स्वरूप की खबर नहीं; इसलिए ही तुझे शान्ति नहीं है। भाई! वास्तव में तू घर भूला है—भूला पड़ा है। तू पर के घर को तेरा आवास मान बैठा है, परन्तु बापू! इस प्रकार अशान्ति का अन्त नहीं आयेगा।

भगवान! शान्ति तो तेरे स्वघर में ही भरी है। भाई! एक बार सबका लक्ष्य छोड़कर तेरे स्वघर में तो देख! तू प्रभु है, सिद्ध है। प्रभु! तू तेरे स्वघर को देख, पर में न देख! पर में लक्ष्य कर-करके तो तू अनादि से भ्रमण कर रहा है। अब तेरे अन्तरस्वरूप की ओर नजर तो कर! एक बार तो अन्दर देख! अन्दर परम आनन्द के अनन्त खजाने भरे हैं, उन्हें सम्हाल तो सही! एक बार अन्दर नजर कर तो तुझे तेरे स्वभाव के कोई अपूर्व परम सहज सुख का अनुभव होगा।

अनन्त ज्ञानी कहते हैं कि 'तू प्रभु है।' प्रभु! तेरे प्रभुत्व की एक बार हाँ तो पाड़!

卐 ❀ 卐

आत्मस्वभाव

श्रीमद् राजचन्द्रजी ने एक बार 'गोसलिया' का दृष्टान्त दिया था। एक गाँव में एक महिला थी। उसके गोसलिया नाम का लड़का था। उस लड़के का पिता गुजर गया था और महिला साधारण स्थिति की थी। जब गोसलिया दस-बारह वर्ष की उम्र का हुआ, तब उसकी माँ ने उसे थोड़े से रुपये देकर कहा कि तू बगल के शहर में जाकर कुछ माल लाकर व्यापार कर, जिससे गुजारा चले।

गोसलिया ने कहा—'माँ! मैं बड़े शहर के बाजार में जाऊँ और वहाँ बाजार में बहुत लोगों के बीच में गोसलिया खो जाए तो?'

यह सुनते ही उसकी माँ ने विचार किया कि अर र र! गजब हुआ न! तू स्वयं गोसालिया और गोसालिया खो जाए? माता ने कहा—'देख भाई! तू स्वयं गोसालिया है। गोसालिया खो नहीं जाएगा, तथापि यदि तुझे गोसालिया खो जाने की शंका पड़ती हो तो तेरे हाथ में यह डोरा बाँध देती हूँ। वह डोरा देखकर निश्चित कर लेना।'—ऐसा कहकर उसकी माता ने उसके हाथ में डोरा बाँध दिया और गोसालिया भाई तो बगल के शहर में खरीदी करने चल पड़े।

गोसालिया के पास थोड़े से ही रुपये थे, इसलिए उसे हल्दी, मिर्च इत्यादि परचूनी चीज़ें लेना थीं। शहर में जाकर गोसालिया ने विचार किया कि यहाँ (हल्दी आदि की दुकान के पास) तो थोड़े लोग हैं, इसलिए भाव अधिक होगा; और जहाँ सटोरियों का बाजार था, वहाँ बहुत लोग देखकर विचार किया कि यहाँ बहुत लोग हैं, इसलिए भाव सस्ता होगा। ऐसा विचार कर वह वहाँ गया। उसे लेना था हल्दी-मिर्च और गया सट्टा बाजार में!! वहाँ बहुत लोगों की दौड़ा-दौड़ी के बीच हाथ का डोरा छूट गया।

सट्टा बाजार में हल्दी-मिर्च नहीं मिलती, ऐसा विचार कर वापस हल्दी-मिर्च वाले की दुकान में गया। वहाँ लोगों की भीड़ कम थी। वहाँ आकर गोसालिया

ने विचार किया कि वहाँ बहुत लोगों के बीच गोसालिया खो तो नहीं गया न? इसलिए लाओ, डोरा खोजकर देखूँ। हाथ के सामने देखने पर डोरा दिखाई नहीं दिया। 'हाय... हाय...! गोसालिया कहीं खो गया!' ऐसा विचार कर वह तो पूरे शहर में गोसालिया को खोजने लगा। शाम तक भटकता रहा परन्तु शहर में कहीं गोसालिया मिला नहीं। क्योंकि उसकी माँ ने कहा था कि जिसके हाथ में डोरा बँधा हो, उसे गोसालियारूप से पहिचान लेना, परन्तु उसे डोरा दिखाई नहीं दिया। गोसालिया स्वयं और खोजता है बाहर में, तो वह कहाँ से मिले? अन्ततः सायंकाल उसने विचार किया कि इस शहर की भीड़ से उकताकर गोसालिया उसके गाँव में वापस चला गया होगा, इसलिए अब गाँव में जाकर खोजूँ। ऐसा विचारकर वह वापस गाँव में गया और घर जाकर माता को कहा—'अरे माँ! गोसालिय तो खो गया! बहुत खोज की परन्तु वापस नहीं मिला।'

उसकी माँ ने कहा—भाई! तू थक गया होगा, इसलिए सो जा, बाद में हम गोसालिया को खोजेंगे। गोसालिया सो गया और तब उसकी माँ ने उसके हाथ में डोरा बाँध दिया। थोड़ी देर में गोसालिया जागृत हुआ और हाथ की ओर देखा तो वहाँ डोरा दिखाई दिया। तुरन्त ही वह बोल उठा —'ए... माँ! गोसालिया मिल गया।'

माता ने कहा—'अरे पुत्र! गोसालिया कहीं खो नहीं गया था, गोसालिया तो गोसालिया में ही था। डोरे के समय भी वही था और डोरा छूटा, तब भी वही था, परन्तु तुझे भ्रम पड़ गया था, इसलिए तू बाहर में खोजता था।'

यह तो दृष्टान्त है। अब इसका सिद्धान्त आत्मा पर उतरता है।

गोसालिया अर्थात् अज्ञानी जीव, उसे अनादि से अपने स्वरूप की खबर नहीं। जब उसे धर्म श्रवण की जिज्ञासा हुई, तब सद्गुरु ने कहा कि भाई! धर्म की समझ करो; धर्म समझे बिना कहाँ भटकोगे? इसलिए कुछ धर्म का व्यापार करो तो शान्ति प्रगट होगी। यह सुनकर अभी आत्मा की समझ की कुछ मेहनत करने से पहले तो गोसालिया जैसा अज्ञानी जीव कहता है कि 'प्रभु! धर्म तो समझना है परन्तु

फिर बहुत कर्म का उदय आवे और आत्मा को भूल जाएँ तो? धर्म का व्यापार करते-करते कर्म की भीड़ के बीच मैं पूरा आत्मा स्वयं ही खो जाऊँ तो?'

अरे! अभी धर्म करने से पहले ही अज्ञानी को ऐसी शंका उत्पन्न होती है तो वह धर्म किस प्रकार करेगा? उसे सद्गुरु कहते हैं कि अरे वीर्यहीन! तुझे तेरे आत्मा की श्रद्धा नहीं, इसलिए तेरे चैतन्यतत्त्व का जोर तुझे भासित नहीं होता। बाकी जीव की प्रतीतिवाले को गिरने की शंका नहीं होती। यदि अपने ज्ञानस्वभाव को भूलकर अपने को विकारी और अजीव माने तो गिरे। जो जीव गिरे हैं, वे जीव को चूके हैं इसलिए गिरे हैं। जीवद्रव्य की प्रतीति करके अजीव से भिन्नपने अपने स्वभाव में जो टिका है, उसे ऐसी प्रतीति होती है कि मेरे तत्त्व में इस अजीव का प्रवेश तीन काल में नहीं है; और ऐसी प्रतीतिवाले को गिरने की शंका नहीं होती। तो भी अज्ञानी कहता है कि आगे जाने पर कर्म का उदय आवे और गिर जाएँ तो? तब श्रीगुरु कहते हैं कि हे भाई! हम सच्ची श्रद्धारूपी डोरा तुझे बाँध देते हैं, उसके द्वारा तेरे आत्मा को विकार से और कर्म से भिन्न पहिचान लेना। परमपारिणामिक निर्मल स्वभाव, वह तू है, तू ज्ञानस्वरूप है। तेरे ज्ञानस्वभाव में अज्ञान नहीं होता, पुण्य-पाप नहीं होते, मिथ्यात्व नहीं होता, कर्म नहीं होते। ऐसे तेरे ज्ञानस्वभाव को सबसे भिन्नरूप से प्रतीति में टिका रखना, इससे तेरा आत्मा खो नहीं जाएगा, तुझमें अज्ञान का प्रवेश नहीं होगा और मुक्तिमार्ग में जाने से तू वापस गिरेगा नहीं।

परन्तु अज्ञानी को राग में अपनेपने का भ्रम हो जाता है। अर्थात् राग ही मानो कि आत्मा हो, ऐसा वह मानता है और राग से भिन्न आत्मस्वभाव को भूल जाता है। उसे भ्रम हो जाता है कि यह राग हुआ, उसमें मेरा आत्मा खो गया। ज्ञानी उसे कहते हैं कि भाई! तू शान्त होकर तेरे स्वरूप को देख। राग के समय भी तेरा स्वभाव ऐसा का ऐसा ही है, परन्तु तुझे राग में एकत्वपने का भ्रम हो गया है। इसलिए तेरा भिन्न स्वभाव तेरे अनुभव में नहीं आता। तेरा स्वभाव तो त्रिकाल चैतन्यस्वरूप है। उस चैतन्यस्वरूप लक्षण द्वारा तू तेरे आत्मा को पहिचान ले। उस चैतन्य लक्षणरूप तेरे आत्मा को राग हो, उस समय भी उससे भिन्न स्वभाव से टिकनेवाला है।

इसलिए आत्मा खो गया अर्थात् विकारी हो गया, ऐसा भ्रम तू छोड़ और तेरे स्वभाव को मान।

इस प्रकार जब श्रीगुरु बारम्बार समझाते हैं और पात्र जीव स्वसन्मुख होकर चैतन्यस्वभाव की दृष्टि करके अपना स्वरूप समझता है, तब उसे भान होता है कि अहो! मैं आत्मा तो सदा ही परिपूर्ण स्वभाववाला ही हूँ। मेरा स्वभाव भी कभी किसी में मिल गया नहीं था तथा विकारी भी नहीं हुआ था। त्रिकाली स्वभाव समझने के पश्चात् और उसकी प्रतीति करने के बाद उसे कर्म से गिरने की शंका कभी नहीं होती।

जिस प्रकार डोरा था, तब भी वह गोसालिया ही था और डोरा छूटा, तब भी वह तो वही था, परन्तु वह भ्रम से भूल गया था; उसी प्रकार विकार के समय भी जीव का स्वभाव ऐसा का ऐसा ही है, परन्तु अज्ञानी उसे भूल रहा है। अब ज्ञानी उसे बताते हैं, तब भ्रम टालकर सच्चा भान होने पर स्वयं अपने पारिणामिकभाव को पहिचानता है और उस पारिणामिकभाव के लक्ष्य से अनादि का औदयिकभाव मिटाकर औपशमिक इत्यादि भाव प्रगट करता है। श्रीगुरु उस पारिणामिकभाव की पहिचान कराते हैं। यदि जीव अपने पारिणामिकभाव की श्रद्धारूपी डोर आत्मा के साथ बाँध दे, तो वह संसार में खोवे नहीं—अर्थात् उसकी अवश्य मुक्ति ही होगी।

卐 ❀ 卐

ऐसा निरन्तर लगना चाहिए

कोई विकराल सिंह झपट्टा मारता हुआ अपने पीछे आ रहा हो तो स्वयं कैसी दौड़ लगायेगा? क्या वहाँ श्वाँस लेने के लिए भी खड़ा रहेगा? उसी प्रकार यह कालरूपी सिंह झपट्टा मारता हुआ पीछे दौड़ता आ रहा है और अभी आत्महित के अनेक कार्य करना है — ऐसा उसे निरन्तर लगना चाहिए। — *पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी*

सच्ची समझ

सबसे पहले कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र की मान्यता छोड़कर सच्चे देव-गुरु-शास्त्र को पहिचानना चाहिए, ऐसा करने से तीव्र मिथ्यात्व छूटता है। सच्चे देव-गुरु-शास्त्र को मानने से मिथ्यात्व की मन्दता होती है, परन्तु अभाव नहीं होता तथा सच्चे देव-गुरु-शास्त्र को मानने से अशुभभाव टलकर शुभभाव होता है, परन्तु वह तो बन्धभाव में अन्तर पड़ा। अशुभ और शुभ दोनों बन्धभाव ही है। जीव एक प्रकार का बन्धभाव बदलाकर दूसरे प्रकार के बन्धभाव में आता है परन्तु आत्मा के भान बिना बन्धभाव से छूटकर मुक्तिमार्ग में उसका प्रवेश नहीं होता।

सच्चे देव-गुरु-शास्त्र का लक्ष्य अशुभबन्ध को रोकता है, परन्तु शुभबन्ध को नहीं रोक सकता और कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र की मान्यता तो अशुभ बन्ध को भी रोकने में समर्थ नहीं है। अबन्ध आत्मस्वभाव के भान द्वारा अशुभबन्ध और शुभबन्ध दोनों को रोका जा सकता है।

मुमुक्षु : अशुभ तो बन्धन ही है और शुभ भी बन्धन ही है, तो फिर सच्चे देव-गुरु-शास्त्र का लक्ष्य करके शुभराग किसलिए करना?

पूज्य गुरुदेवश्री : भाई! शुभराग भी करनेयोग्य तो है ही नहीं। यदि तुझे शुभ-अशुभभावरहित आत्मा के स्वभाव की पहिचान हुई हो और स्वभाव में टिके रहने का पुरुषार्थ होता हो तो इसी क्षण शुभ को भी छोड़कर शुद्धात्मस्वरूप में स्थिर होना योग्य है। परन्तु यदि शुभ-अशुभरागरहित स्वभाव की पहिचान हुई हो और उसमें स्थिरता द्वारा शुद्ध उपयोग न हो सके तो ज्ञानी को भी अशुभभाव से बचने के लिये शुभभाव होता है। अशुभराग की अपेक्षा शुभराग ठीक है परन्तु शुभराग भी बन्धन ही है। उससे आत्मा को किंचित् धर्म नहीं है, ऐसा प्रथम समझना चाहिए।

ज्ञानी 'पुण्य से धर्म नहीं होता' ऐसा समझाते हैं परन्तु तुरन्त ही पुण्य छोड़ देने का नहीं कहते। निचलीदशा में पुण्यभाव होता अवश्य है, परन्तु उससे धर्म नहीं

है, ऐसा समझना चाहिए। 'पुण्य से धर्म नहीं' ऐसा मानने से पुण्य घट नहीं जाता, परन्तु सत् के लक्ष्य से उत्कृष्ट प्रकार के पुण्य बँध जाते हैं। जो पुण्य से धर्म मानता है, उसे उत्कृष्ट पुण्य नहीं बँधता, परन्तु जो पुण्य से धर्म नहीं मानता, उसे उत्कृष्ट पुण्य बँधता है।

तथा शरीर आदि की क्रिया आत्मा नहीं कर सकता, ऐसा ज्ञानी समझाते हैं, तद्नुसार समझने से शरीर की क्रिया रुक नहीं जाती क्योंकि शरीर की क्रिया शरीर के कारण से हुआ ही करती है। परन्तु जीव पहले शरीर की क्रिया का मिथ्या अभिमान करता था, वह अब 'शरीर की क्रिया मैं कर नहीं सकता परन्तु वह तो शरीर के कारण से स्वयं होती है'—ऐसा समझकर जाननेवाला ही रहता है और इससे उसे अनन्त राग-द्वेष टलकर शान्ति होती है।

सच्चा समझकर करना क्या ?

मुमुक्षु : ज्ञानी बारम्बार समझाते हैं कि आत्मा दूसरे का कुछ नहीं कर सकता, यह सत्य है, परन्तु यह समझने के पश्चात् क्या करना ?

पूज्य गुरुदेवश्री : मैं दूसरे का कुछ नहीं कर सकता, ऐसा सच्चा समझने के पश्चात् 'अब क्या करना' यह प्रश्न ही नहीं उठता। मैं दूसरे का कुछ कर सकता नहीं, ऐसा समझा तो अपने में ही करने का रहा, अपने में जो राग होता है, उसे ही करना रहा। राग को स्वभाव की एकाग्रता द्वारा टालने की क्रिया (स्थिरतारूप क्रिया अर्थात् सम्यक्चारित्र) ही करने की रही।

मुमुक्षु : चैतन्य की पहिचान द्वारा सम्यग्दर्शन होने के बाद क्या करना ?

पूज्य गुरुदेवश्री : चैतन्य का ग्रहण और बन्धभाव का त्याग करना। बीच में व्यवहार-विकल्प इत्यादि आ पड़े, उसे बन्धभावरूप से जानकर छोड़ देना।

जीव अज्ञानरूप से भी दूसरे का तो कर सकता ही नहीं, मात्र दूसरे का करने की चिन्ता करता है परन्तु सामने प्रतिकूल वस्तु को बदलने की चिन्ता करने से कहीं

वह वस्तु बदल नहीं जाती तथा धर्म पुस्तकें लेने या देने की क्रिया आत्मा कर नहीं सकता। मात्र अज्ञान से राग-द्वेष करता है, वह अब समझ होने पर ज्ञान ही करना रहा। ज्ञान करते-करते राग-द्वेष टलकर मुक्ति होती है।

अज्ञानी जीव प्रतिक्षण राग-द्वेष करके संसार बढ़ाता है। सच्ची समझ होने पर जीव क्षण-क्षण में मुक्ति करता है अर्थात् समझ के पश्चात् मोक्ष की क्रिया ही करने की रही और विकार की क्रिया को छोड़ने की रही। जड़ क्रिया को तो कोई आत्मा कर सकता ही नहीं, मात्र जान सकता है।

सम्यग्दर्शन न हो, तब तक क्या करना ?

मुमुक्षु : आप सम्यग्दर्शन का अपार माहात्म्य बतलाते हो, वह तो बराबर है, वही करनेयोग्य है परन्तु उसका स्वरूप न समझ में आये तो क्या करना ?

पूज्य गुरुदेवश्री : सम्यग्दर्शन के बिना आत्मकल्याण का दूसरा कोई उपाय तीन काल-तीन लोक में नहीं है। इसलिए जब तक सम्यग्दर्शन का स्वरूप न समझ में आये, तब तक उसका ही अभ्यास निरन्तर किया करना। आत्मस्वभाव की सच्ची समझ का ही प्रयत्न किया करना, वही सरल और सच्चा उपाय है। यदि तुझे आत्मस्वभाव की सच्ची रुचि है और सम्यग्दर्शन की महिमा जानकर उसकी झंखना हुई है तो तेरा समझ का प्रयत्न व्यर्थ नहीं जाएगा। स्वभाव की रुचिपूर्वक जो जीव सत् समझने का अभ्यास करता है, उस जीव को क्षण-क्षण में मिथ्यात्वभाव मन्द पड़ता जाता है। एक क्षण भी समझ का प्रयत्न निष्फल नहीं जाता, परन्तु क्षण-क्षण में उसका कार्य हुआ ही करता है। स्वभाव के उत्साह से जो समझना चाहता है, उस जीव को अनन्त काल में नहीं हुई, ऐसी निर्जरा शुरु होती है। श्री पद्मनन्दि आचार्यदेव ने तो कहा है कि यह चैतन्यस्वरूप आत्मा की बात भी जिस जीव ने प्रसन्नचित्त से सुनी है, वह जीव मुक्ति के योग्य है।

सच्ची समझ और व्रतादि का क्रम

जिसने राग-द्वेषरहित अपने शुद्धस्वभाव की प्रतीति की और जिसे सम्यग्दर्शन

हुआ, वह जीव तत्काल सभी राग-द्वेष का त्याग नहीं कर सकता और स्त्री आदि का त्याग उसे न हो तो भी उसका सम्यग्दृष्टिपना चला नहीं जाता।

कोई जीव ऐसा माने कि 'अभी अपने आत्मा समझने का क्या काम है? पहले राग घटाकर त्याग करने लगो। आत्मा की पहिचान न हो, तब तक व्रत इत्यादि करना, ऐसा करने से कभी आत्मा की पहिचान होगी,'—ऐसा माननेवाला मिथ्यादृष्टि है, वह मोक्षमार्ग के क्रम का उल्लंघन करता है। आत्मा को पहिचाने बिना किसका त्याग करेगा और आत्मा को पहिचाने बिना किसके व्रत?

प्रथम रागरहित स्वभाव को समझे बिना यथार्थरूप से राग टल ही नहीं सकता और व्रतादि होते ही नहीं। अभी जिसमें आत्मभान करके चौथा गुणस्थान प्रगट करने की ताकत नहीं, उस जीव में व्रतादि—कि जो पाँचवें गुणस्थान में होते हैं वे—प्रगट करने की ताकत कहाँ से आयेगी? अपने से व्रत-तप हो, परन्तु सच्ची समझ नहीं हो सकती, ऐसा जो मानता है, उसे आत्मस्वभाव की अरुचि है और शुभराग की रुचि है, वह मिथ्यादृष्टि ही है। आत्मज्ञान बिना शुभराग करे तो भी धर्म नहीं है और शुभराग करना, वह आत्मज्ञान का उपाय नहीं है; इसलिए जब तक विकाररहित स्वभाव का भान न हो, तब तक समझ का ही प्रयत्न किया करना, परन्तु शुभराग, वह धर्म का उपाय है—ऐसा नहीं मानना।

卐 ❀ 卐

ज्ञानभावना

संसार में जब हजारों प्रकार की प्रतिकूलताएँ एक साथ आ पड़ें, कहीं मार्ग न सूझे; उस समय उपाय क्या? एक ही उपाय है कि धैर्यपूर्वक ज्ञानभावना भाना।

ज्ञानभावना क्षणमात्र में सब प्रकार की उदासी को नष्ट कर, हितमार्ग सुझाती है, शान्ति देती है, कोई अलौकिक धैर्य और अचिन्त्य शक्ति देती है।

गृहस्थ श्रावक को भी 'ज्ञानभावना' होती है। — *पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी*

अध्यात्म उपदेश

(श्री समयसारजी, मोक्ष अधिकार के व्याख्यान से)

प्रश्न : अध्यात्म उपदेश में आत्मा का स्वरूप समझने की बात बारम्बार आती है, परन्तु कषाय मन्द करने की, वैराग्य की, भक्ति की बात क्यों नहीं करते? सम्यग्दर्शन करने की बात वजन देकर करते हैं और व्रतादि की बात आवे वहाँ 'व्रत से धर्म नहीं', ऐसा कहकर उसका जोर ढीला कर डालते हो, तो फिर इसमें सिद्धान्तबोध या उपदेशबोध क्या आया?

पूज्य गुरुदेवश्री : भाई! जो आत्मा का स्वरूप समझने में रुके हैं, उन्हें कषाय की मन्दता, सच्चे देव-गुरु-शास्त्र का बहुमान, कुदेवादिक को न मानना, ब्रह्मचर्य का रंग और स्वाध्याय इत्यादि का शुभभाव क्या नहीं आता? जगत की पंचायत का पाप छोड़कर वह मात्र आत्मा की बात सुनता है, उसे समझने में रुकता है, उसमें जिज्ञासा कितनी है? कषाय की मन्दता कितनी है? क्या यह सब व्यवहार नहीं आया? आत्मा का स्वरूप समझने की रुचि हुई और उसमें रुका, उतने अंश में क्या संसार के प्रति वैराग्य नहीं आया? सत् समझने के इच्छुक जिज्ञासु को सत् का और सत् के निमित्तरूप से देव-गुरु-शास्त्र का अपार बहुमान होता है। इस प्रकार शुभराग, भक्ति, कषाय की मन्दता, वैराग्य इत्यादिरूप व्यवहार आता अवश्य है परन्तु आत्मा का शुद्धस्वरूप समझने की मुख्यता में वह व्यवहार गौण किया जाता है।

यदि जिज्ञासा से इस मार्ग को बराबर समझे तो सत्य का मार्ग तो सीधा-सट्ट सम्यग्दर्शनपूर्वक केवलज्ञान और मोक्ष का ही है। सत्सन्मुख की यथार्थ जिज्ञासा और सत् में अर्पणता, यही सत्स्वरूप प्राप्त करने का स्वतन्त्र उपाय है; इसमें पराधीनता नहीं तथा बुद्धि को गिरवी रखने की बात नहीं है। आग्रह छोड़कर आत्मा की दरकार से स्वयं समझना चाहे तो स्वयं ही सत्स्वरूप है, उसमें अभेद होता है।

यदि शुभराग में हर्ष और उत्साह करेगा तो वह शुभराग में ही अटक जाएगा,

परन्तु स्वभाव की रुचि करके उसमें उन्मुख नहीं हो सकेगा अर्थात् कि मिथ्यात्व नहीं मिटेगा। जिससे मिथ्यात्व नहीं मिटे और संसार का अन्त न आवे, ऐसा उपाय किस काम का? शुद्धात्मस्वभाव को निश्चय द्वारा जानने से ही सम्यग्दर्शन प्रगट होता है और सम्यग्दर्शन से ही अनन्त संसार का अन्त आता है।

निश्चय को जाने बिना व्यवहार को भी यथार्थरूप से नहीं पहिचाना जा सकता। पूरे संसार की धमाल छोड़कर पूरे दिन मात्र असंग तत्त्व का अभ्यास करना, उसमें क्या कषाय की मन्दता नहीं आती होगी? यह श्रवण करते हैं, वह श्रवण का भाव व्यवहार नहीं तो क्या निश्चय है? सत्य का श्रवण करना तथा प्रतिपादन करना, वह शुभरागरूप व्यवहार है। लौकिक शुभराग से सत् के प्रति का यह राग अलग प्रकार का होता है। यह लोकोत्तर पुण्य का कारण है। साधक को शुभराग होता है, उसका निषेध नहीं किया जाता, परन्तु उस राग को मुक्ति के कारणरूप से मानने का निषेध ज्ञानी करते हैं। राग मेरी आत्मशान्ति को सहायक नहीं है, इस प्रकार रागरहित स्वभाव की रुचि और प्रतीति में बराबर दृढ़ता करना, यही मुक्ति का मार्ग है।

ज्ञानी को सत्स्वभाव के लक्ष्य से जैसा उच्च प्रकार का शुभराग होगा, वैसा राग अज्ञानी को नहीं होता। तथापि ज्ञानी उस राग को आदरणीय नहीं मानते और अज्ञानी उस राग को आदरणीय मानता है। हे भाई! शुभराग होने पर भी तू तेरे आत्मा के लिये ऐसा मान कि मैं शुद्ध चैतन्य ज्ञाता शान्तिस्वरूप हूँ; यह राग है, वह मुझमें रहने के लिये नहीं है। वह विकार है, मेरा स्वरूप नहीं। ऐसा समझकर राग का आदर छोड़ और आत्मा की दृढ़ रुचि करके अभेदस्वभाव की ओर झुक। ऐसा करने से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट होकर मोक्ष होगा और बन्धभाव छूट जायेंगे।

अहो! अज्ञानी को चैतन्य के वीतरागी स्वभाव का और वीतरागी सम्यग्दर्शन का माहात्म्य नहीं आता, परन्तु पंच महाव्रतादि के राग का माहात्म्य आता है! वीतरागी स्वभाव की रुचि तथा भरोसे के बिना पंच महाव्रत का राग किया, उसमें आत्मा को क्या फल? प्रथम तो, पंच महाव्रत के राग से आत्मा को लाभ मानना, वही मिथ्यात्व है और वह महापाप है। अब विचार करो कि पंच महाव्रत पालनेवाले

अज्ञानी आत्मा को शुरुआत में, मध्य में और अन्त में क्या फल आया? शुभराग है, वह स्वयं आकुलता है, उसका अभिमान करके अज्ञानी मिथ्यात्व को दृढ़ करता है और उस शुभराग के फलरूप से जड़ का संयोग आता है। कभी भी उस राग द्वारा आत्मा को लाभ नहीं होता, तथापि प्रथम भूमिका में देव-गुरु-शास्त्र की पहिचानपूर्वक उनका बहुमान, भक्ति, ज्ञानियों का समागम, वैराग्य इत्यादि का शुभराग आता है।

卐 ❁ 卐

कल्याण की मूर्ति

हे जीवों! यदि तुम आत्मकल्याण चाहते हो तो स्वतः शुद्ध और सर्व प्रकार से परिपूर्ण आत्मस्वभाव की रुचि और विश्वास करो, उसका ही लक्ष्य और आश्रय करो। इसके अतिरिक्त दूसरा जो कुछ है, उस सर्व की रुचि, लक्ष्य और आश्रय छोड़ो। क्योंकि सुख स्वाधीन स्वभाव में है, परद्रव्य तुम्हें सुख या दुःख करने में समर्थ नहीं है। तुम अपने स्वाधीन स्वभाव का आश्रय छोड़कर अपने दोष से ही पराश्रय द्वारा अनादि से अपना अमर्यादित अकल्याण कर रहे हो। इसलिए अब सर्व परद्रव्यों का लक्ष्य और आश्रय छोड़कर स्वद्रव्य का ज्ञान, श्रद्धान तथा स्थिरता करो। स्वद्रव्य में दो पहलू हैं—एक तो त्रिकाल शुद्ध स्वतः परिपूर्ण निरपेक्ष स्वभाव है और दूसरा क्षणिक वर्तमान वर्तती विकारी हालत है। पर्याय स्वयं अस्थिर है, इसलिए उसके लक्ष्य से पूर्णता की प्रतीतिरूप सम्यग्दर्शन प्रगट नहीं होता परन्तु जो त्रिकाल स्वभाव है, वह सदा शुद्ध है, परिपूर्ण है और वर्तमान में भी प्रकाशमान है; इसलिए उसके आश्रय से पूर्णता की प्रतीतिरूप सम्यग्दर्शन प्रगट होगा। वह सम्यग्दर्शन स्वयं कल्याणस्वरूप है और वही सर्व कल्याण का मूल है। ज्ञानी सम्यग्दर्शन को 'कल्याण की मूर्ति' कहते हैं।

इसलिए हे जीवो! तुम सर्व प्रथम सम्यग्दर्शन प्रगट करने का अभ्यास करो।

卐 ❁ 卐

दूसरा कुछ खोज मत

शुद्धोपयोग के प्रसाद से जीव स्वयं ही—स्वयमेव—स्वभाव द्वारा परिणमकर केवलज्ञानरूप होता है, इसलिए वह 'स्वयंभू' है। उसकी प्रशंसा करके आचार्यदेव समझाते हैं कि हे जीव! शुद्धात्मस्वभाव की प्राप्ति के लिये तेरे स्वभाव के अतिरिक्त दूसरे किसी साधन के साथ तुझे वास्तव में सम्बन्ध नहीं। तेरे धर्म के लिये शुद्ध अनन्त शक्तिवाला तेरा ज्ञानस्वभाव ही साधन है। इसके अतिरिक्त दूसरे किसी साधन के साथ तेरे धर्म को सम्बन्ध नहीं। इसलिए सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप धर्म की प्राप्ति के लिये, हे जीव! तू शुद्ध अनन्त शक्तिसम्पन्न तेरा ज्ञानस्वभाव ही खोज, इसके अतिरिक्त दूसरे कोई साधन खोजने की व्यग्रता न कर। तेरा शुद्ध ज्ञानानन्दस्वभाव ही तेरा स्वतन्त्र साधन है। इसके अतिरिक्त दूसरे कोई साधन खोजने में तेरी परतन्त्रता है। 'स्वयंभू' ऐसा तेरा शुद्ध अनन्त चैतन्यशक्ति सम्पन्न आत्मस्वभाव ही सर्व प्रकार से साधनरूप होकर स्वयं धर्मरूप परिणमने के लिये समर्थ है। इसलिए 'स्वयंभू भगवान' ऐसे तेरे आत्मा को ही अन्तर्मुख होकर खोज! तेरे शुद्ध अनन्त शक्तिवाले ज्ञानस्वभाव के अतिरिक्त दूसरे कोई भी साधन न खोज।

स्वभाव को ही साधनरूप से अंगीकार करके परिणमन करनेवाले जीव स्वतन्त्ररूप से स्वयं धर्मरूप होते हैं और धर्म के लिये बाहर के साधन खोजनेवाले जीव पर के आश्रय से परिणमते हुए व्यग्रता से परतन्त्र होते हैं। इसलिए जिसे धर्मरूप होना हो, वह अपने शुद्ध ज्ञानानन्दस्वभाव को पहिचानकर, उसे—एक को ही साधनरूप से अंगीकार करो, उसका—एक का ही आश्रय करो और बाह्य साधनों का आश्रय छोड़ो... ऐसा सन्तों का उपदेश है।

तेरे शुद्धात्मस्वभाव की प्राप्ति के लिये तेरे अन्तर स्वभाव में सामग्री परिपूर्ण है, तथापि अरे जीव! बाह्य में सामग्री खोजने में तू व्यर्थ व्यग्र क्यों होता है? तेरे पास ही अन्तर में तेरा साधन पड़ा है, उसे खोजकर उसका ही आश्रय कर। दूसरा कुछ खोज मत!

वज्र दीवार जैसा निर्णय

भाई! तेरे ज्ञान को अन्तर में झुकाकर एक बार वज्र दीवार जैसा निर्णय किये बिना मोक्षमार्ग की ओर तेरा वीर्य उठेगा नहीं। यह निर्णय करने से तेरी प्रतीति में ज्ञान की अधिकता हो जाएगी और राग ज्ञान का ज्ञेय हो जाएगा। इसके अतिरिक्त पर को मैं करूँ और पर को मैं बदलूँ—ऐसी बुद्धि, वह तो संसार भ्रमण का कारण है।

संसार हराम है

अरे! अब इस दु:खमय संसार से बस होओ... बस होओ! अब मुझे यह संसार नहीं चाहिए। इस प्रकार संसार की रुचि छोड़कर आत्मा को झंखता में जो जीव आता है, उसे आत्मा मिलेगा। संसार का एक कण भी जिसे रुचता होगा, वह जीव आत्मा की ओर नहीं झुक सकेगा। जिसे आत्मा का सुख चाहिए हो, उसे संसार नहीं मिलेगा और जिसे संसार रखना हो, उसे आत्मा का सुख नहीं मिलेगा। क्योंकि दोनों की दिशा ही अलग है। इसलिए हे जीव! यदि तुझे आनन्दमूर्ति आत्मा चाहिए हो तो सम्पूर्ण संसार को हराम कर कि मुझे अब संसार स्वप्न में भी नहीं चाहिए। एक चिदानन्द आत्मा के अतिरिक्त शरीर और विकार, वह कहीं मेरा स्वरूप नहीं है और उसमें कहीं मेरा सुख नहीं है। मैं तो ज्ञान हूँ और मुझमें ही मेरा सुख है। इस प्रकार अन्तर में खोजने से आनन्दमय आत्मा की प्राप्ति होती है।

आत्मा को प्रसन्न करने की धगश

जगत के जीवों ने दुनिया प्रसन्न कैसे हो और दुनिया को सुहाता कैसे हो, ऐसा तो अनन्त बार किया है, परन्तु मैं आत्मा वास्तविक रीति से कैसे प्रसन्न होऊँ और मेरे आत्मा को वास्तव में रुचिकर क्या है—इसका कभी विचार भी नहीं किया, इसकी कभी दरकार भी नहीं की। जिसे अपने आत्मा को वास्तव में प्रसन्न करने की धगश जागृत हुई, वह अपने आत्मा को प्रसन्न करके ही रहेगा और उसे 'प्रसन्न'

अर्थात् कि 'आनन्दधाम' में पहुँचकर ही छुटकारा है। यहाँ जगत के जीवों को प्रसन्न करने की बात नहीं, परन्तु जो अपना हित चाहता हो, उसे क्या करना—इसकी बात है। अपना स्वभाव ज्ञान-आनन्द से भरपूर है, उसकी श्रद्धा करे तो कल्याण हो; इसके अतिरिक्त दूसरे से कल्याण तीन काल-तीन लोक में होता ही नहीं।

जीवों को यह बात महँगी पड़े, इसलिए दूसरा रास्ता लेने से धर्म हो जाएगा, ऐसी विपरीत शल्य उन्हें बैठी है। परन्तु भाई! अनन्त काल तक तू बाहर में देखा करे तो भी आत्मधर्म प्रगट नहीं होगा, इसलिए पर का आश्रय छोड़कर स्वतत्त्व की रुचि कर, प्रेम कर, मनन कर। यही सत्स्वभाव को प्रगट करने का उपाय है। इसलिए जो अपना हित चाहता है, वह ऐसा करे—यह आचार्यदेव कहते हैं। जिसे अपना हित करना हो, उसे ऐसी गरज होगी।

अज्ञानी जीवों की बाह्य दृष्टि होने से वे ऐसा मानते हैं कि मैं पर का आश्रय लूँ तो धर्म हो; परन्तु ज्ञानी कहते हैं कि हे भाई! उन सबका आश्रय छोड़कर तू अन्तर में तेरे आत्मा की श्रद्धा कर। आनन्द को प्रगट करने का आधार अन्तर में है। आत्मा की पवित्रता और आत्मा का आनन्द आत्मा में से ही प्रगट होता है, बाहर से किसी काल में प्रगट नहीं होता।

卐 ❁ 卐

धर्मात्मा की दृष्टि

धर्मात्मा को शुद्धता के साथ रहनेवाले शुभभाव से ऊँचा पुण्य बँधता है परन्तु उसकी दृष्टि तो आत्मा की शुद्धता को साधने पर है। जो जीव, सम्यग्दर्शन प्रगट नहीं करे और मात्र शुभराग से ही मोक्ष होना मानकर उसमें अटका रहे, वह मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता, उसे तो श्रावकपना भी सच्चा नहीं होता। कोई जीव, धर्म की आराधना कर रहा हो तो उसे देखकर धर्मी को उसके प्रति प्रमोद आता है क्योंकि उसे स्वयं को आराधना का तीव्र प्रेम है।

— पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

पुण्यकर्म का पक्षपाती : अज्ञानी

पुण्य, बन्ध का ही कारण होने पर भी उसे जो मोक्ष का कारण मानता है, वह जीव पुण्यकर्म का पक्षपाती है। पुण्यकर्म के पक्षपात में उसे क्या दोष आता है, यह आचार्यदेव (समयसार, गाथा 154 में) बताते हैं और कहते हैं कि जिनागम का विधान तो ज्ञानस्वरूप आत्मा की अनुभूति करने का है।

卐

आत्मा ज्ञानस्वरूप है, वह अबन्ध है और उसके आश्रय से परिणमता जो ज्ञान है, वही मोक्ष का कारण है, क्योंकि ज्ञान स्वयं बन्धनरहित है। उस ज्ञान परिणमन के अतिरिक्त जो कुछ पराश्रित परिणमन है, वह सब बन्धस्वरूप है और बन्ध का कारण है। इसलिए ज्ञानस्वभाव की अन्तर अनुभूति करके ज्ञानरूप परिणमना, वही आगम का विधान है। समस्त आगम का सार क्या है ? कि ज्ञानरूप परिणमना। अन्तर्मुख होकर जो ज्ञानभाव से परिणमा, उसने सर्व आगम का रहस्य जाना और बहुत शास्त्र पढ़ने पर भी यदि अन्तर्मुख ज्ञानभाव से नहीं परिणमा—राग से भिन्न ज्ञान का अनुभव नहीं किया—तो उसका सब जानपना अज्ञान ही है। शास्त्र की ओर के विकल्प से या शुद्धनय के विकल्प से मुझे जरा भी लाभ होगा—ऐसा जो मानता है, वह जीव विकल्प का ही पक्षपात करके विकल्प के अनुभव में ही अटकता है, परन्तु उससे आगे हटकर ज्ञान का अनुभव नहीं करता, अर्थात् कि आगम के फरमान की उसे खबर नहीं है। आगम का फरमान तो राग से भिन्न चैतन्य का अनुभव करने का है, उसके बदले अज्ञानी पुण्य के पक्ष में अटक गया है।

पापकर्म तो कुशील है—खराब है, परन्तु पुण्यकर्म तो सुशील है—अच्छा है, ऐसा अज्ञानी मानता है। आचार्यदेव कहते हैं कि अरे भाई! पुण्य भी संसार में ही भटकाता है तो उसे सुशील कैसे कहा जाये ? पुण्य कहीं मोक्षमार्ग के आश्रय नहीं है, वह तो बन्धमार्ग के ही आश्रित है। जीव स्वभाव के आश्रय से परिणमने पर जो

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट हों, वे ही मोक्ष का कारण है; इसके अतिरिक्त पराश्रय से परिणमने पर जो रागादि भाव होते हैं, वे फिर अशुभ हों या शुभ हों—संसार का ही कारण हैं। जो जीव राग की रुचि करता है, वह संसार में ही भटकता है और भेदज्ञान करके जो जीव राग से विरक्त होता है, वही कर्मबन्धन से छूटता है। जो व्रतादि शुभभाव हैं, वे भी जीव के परमार्थस्वभाव से बाह्य हैं। वे व्रतादि के विकल्प न होने पर भी ज्ञानपरिणाम द्वारा ज्ञानी मोक्ष को साधते हैं और अज्ञानी वे व्रतादि के शुभपरिणाम होने पर भी मोक्ष प्राप्त नहीं करते। इसलिए ज्ञान ही मोक्ष का कारण है और ज्ञानरूप परिणमना, वही आगम का फरमान है।

इस प्रकार पुण्य, मोक्ष का कारण नहीं परन्तु बन्ध का ही कारण है—ऐसा आचार्यदेव ने समझाया, तथापि अभी भी जो जीव अज्ञान से पुण्यकर्म का पक्षपात करते हैं, उन्हें क्या दोष आता है, वह फिर से भी समझाते हैं—

परमार्थ बाहिर जीव रे जाने न हेतु मोक्ष का।
अज्ञान से वे पुण्य चाहें हेतु जो संसार का॥

(समयसार, गाथा 154)

जो परमार्थ से बाह्य है अर्थात् चिदानन्दमूर्ति आत्मा के अनुभव से रहित हैं, वे मोक्ष के हेतु को नहीं जानते और अज्ञान से पुण्य को ही मोक्ष का हेतु मानकर उसे चाहते हैं। यद्यपि पुण्य भी संसार गमन का ही हेतु है, तथापि अज्ञानी उसे मोक्ष का हेतु मानते हैं। वे ऐसा मानते हैं कि मैं मोक्ष के उपाय को सेवन करता हूँ, परन्तु वास्तव में राग की रुचि से वे संसारमार्ग को ही सेवन कर रहे हैं। मोक्ष किसे कहना और उसका मार्ग क्या है, इसकी उसे खबर भी नहीं है।

मोक्ष अर्थात् क्या ?—कि समस्त कर्म पक्ष का नाश करने से जो शुद्धात्मा का लाभ हो अर्थात् निजस्वरूप की प्राप्ति हो, वह मोक्ष है।

ऐसे मोक्ष के कारणरूप सामायिक है। वह सामायिक कैसी है ? कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रस्वभाववाले परमार्थभूत ज्ञान का अनुभवन, वह सामायिक

है। शरीर दो घड़ी स्थिर रहे या अमुक पाठ पढ़ जाए, उसे कहीं सामायिक नहीं कहते। अहो! सामायिक में तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र समाहित हो जाते हैं। अकेले ज्ञान के अनुभवनरूप ऐसी सामायिक, वह मोक्ष का कारण है। वह सामायिक चिदानन्दस्वभाव में ही एकाग्रतारूप है और समयसारस्वरूप है। अर्थात् कि शुद्धात्मा के अनुभवस्वरूप है। ऐसी सामायिक पुण्य-पाप के दुरन्त कर्मचक्र से पार है। मात्र पापपरिणाम से निवृत्त हो और अत्यन्त स्थूल ऐसे पुण्यकर्मों में वर्ता करे तथा उसके ही अनुभव से सन्तुष्ट होकर उसे मोक्ष का कारण मान ले तो वह जीव नामर्द है, राग से पार होने का पुरुषार्थ उसमें नहीं है; कर्म के अनुभव से हटकर ज्ञान के अनुभव में वह नहीं आता। हिंसा इत्यादि स्थूल अशुभ परिणामों को तो बन्ध का कारण मानकर छोड़ा परन्तु शुभपरिणामों को मोक्ष का कारण मानकर वह सेवन कर रहा है और इसलिए राग से भिन्न ज्ञान का अनुभव नहीं करता अर्थात् वास्तव में वह अज्ञानभाव से संसार के कारण का ही सेवन कर रहा है। सेवन तो करता है संसार के कारण को और मानता है ऐसा कि मैं मोक्ष के कारण को सेवन करता हूँ, तो वह संसार से कैसे छूटे और मोक्ष कहाँ से प्राप्त करे? मोक्ष के कारण को तो वह जानता भी नहीं। इस प्रकार पुण्यकर्म का पक्षपाती जीव कभी संसार से नहीं छूटता और मोक्ष प्राप्त नहीं करता।

वह अज्ञानी जीव यद्यपि संसार से डरकर मोक्ष को चाहता तो है, परन्तु अभिप्राय में पुण्य को मोक्ष का साधन मानता है; इसलिए वास्तव में वह संसार के कारणरूप पुण्य को चाहता होने से, संसार के कारण का ही सेवन कर रहा है। ऐसे जीव मोक्ष को चाहते हैं, तो भी मोक्ष के कारण को नहीं जानते और संसार के कारण को ही सेवन कर रहे हैं। अज्ञानी जीव स्थूल लक्ष्यवाले हैं। सूक्ष्म ऐसा चैतन्यस्वभाव उनके लक्ष्य में नहीं आया और स्थूल ऐसे शुभपरिणामों में ही वे सन्तुष्ट हैं। शुभपरिणाम से कर्म की किंचित् मन्दता हुई, वहाँ मानो कि मुझे मोक्षमार्ग हाथ आ गया, परन्तु भाई! मन्द कर्म भी कर्म की ही जाति है, मोक्षमार्ग तो उससे अत्यन्त भिन्न ही जाति का है। मन्द कर्म में सन्तुष्ट हुआ, वह कर्म में ही अटका है, परन्तु

कर्म को मूल से नहीं उखाड़ता। वह कर्म की मन्दता भले करे, परन्तु कर्म का मूल सुरक्षित रखा है, इसलिए चैतन्य की मुक्ति का मूल उसके हाथ में नहीं आता।

कर्म की तीव्रता में से मन्दता हुई, पाप में से पुण्य हुआ—परन्तु चक्र तो कर्म का ही रहा। चैतन्य का और राग का अत्यन्त भेदज्ञान करना चाहिए। शुभविकल्प का कण भी मुझे चैतन्य साधना में किंचित् भी मददगार नहीं, मेरा चैतन्यतत्त्व शुभविकल्पों से भी पार है—ऐसी अत्यन्त भिन्नता जानकर समस्त कर्मकाण्ड को मूल में से उखाड़ डाले और कर्म से भिन्न ऐसे ज्ञानकाण्ड का अनुभव करे तो चैतन्य के आश्रय से मोक्ष का साधन होता है। जब तक अभिप्राय में अंशमात्र शुभराग का अवलम्बन रहता है, तब तक संसारवृक्ष का मूल ऐसा का ऐसा रहता है। पाप छोड़कर अज्ञानपूर्वक व्रत-तप-दया-दान-शील-पूजा इत्यादि शुभभाव अनन्त काल में अनन्त बार जीव कर चुका है, परन्तु उससे भवभ्रमण का अन्त नहीं आया। राग के आश्रय की बुद्धि नहीं छूटी, इसलिए संसार में ही भटका। रागमात्र (भले शुभ हो तो भी) बन्ध का ही कारण है, तथापि अज्ञानी उसे बन्ध का कारण न मानकर मोक्ष का कारण मानकर सेवन करता है। शास्त्रकार कहते हैं कि अरे भाई! एक क्षणिक पुण्यवृत्ति के लिये तू पूरे मोक्षमार्ग को बेच रहा है! जिस प्रकार थोड़ी सी राख के लिये कोई मूर्ख चन्दन के वन को भस्म कर डाले; छाछ के लिये कोई रत्न को बेच दे; छोटे से डोरे के टुकड़े के लिये कोई रत्न की कण्ठी तोड़ डाले; उसी प्रकार क्षणिक पुण्य की मिठास के कारण तू पूरे चिदानन्दतत्त्व का आश्रय छोड़ देता है। राग की मिठास के कारण तू पूरे मोक्षमार्ग को छोड़ रहा है और संसारमार्ग का आदर कर रहा है, तो तेरी मूर्खता का क्या कहना?

बापू! मोक्ष की इच्छा से तूने जब दीक्षा ली थी, तब शुद्धात्मा के अनुभवरूप सामायिक की प्रतिज्ञा की थी, परन्तु तू तो शुभराग के ही अनुभव में अटक गया, तूने राग से भिन्न चैतन्य की श्रद्धा भी नहीं की; मोक्ष के साधनरूप सच्ची सामायिक को तूने पहिचाना भी नहीं। चिदानन्दस्वभाव के श्रद्धा-ज्ञान-अनुभवरूप सामायिक, वह मोक्ष का कारण है, ऐसा अनुभव जो नहीं करते, वे राग के ही अनुभव को मोक्ष का

साधन मानकर उसमें अटक जाते हैं, वे कर्मचक्र से पार उतरने के लिये पुरुषार्थहीन हैं; उन्हें चैतन्यस्वभाव का पुरुषार्थ जागृत नहीं हुआ है। जो व्यवहार से अरिहन्त भगवान के मार्ग को ही मानते हैं, दूसरे कुमार्ग को नहीं मानते, भगवान के कहे हुए उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप वस्तु तथा नौ तत्त्व इत्यादि को व्यवहार से बराबर मानते हैं, परन्तु अन्तर में राग और चैतन्य की भिन्नता का वेदन नहीं करते और स्थूल लक्ष्यरूप से शुभराग में ही अटक जाते हैं—ऐसे जीव, शुभराग को संसार का कारण होने पर भी उसे मोक्ष का कारण मान रहे हैं; इसलिए वे पुण्य का—राग का ही आश्रय करते हैं, परन्तु उसका आश्रय छोड़ते नहीं और ज्ञान का आश्रय करते नहीं और इसलिए वे संसार में ही परिभ्रमण करते हैं। इस प्रकार पुण्यकर्म के पक्षपाती जीव संसार में ही भटकते हैं, परन्तु मोक्ष नहीं पाते। मोक्ष तो ज्ञान द्वारा ही प्राप्त होता है, पुण्य द्वारा नहीं।

ज्ञानस्वभाव का आश्रय करके ज्ञानरूप परिणमना, वही मोक्ष का मार्ग है। जो अन्तर्मुख होकर ज्ञानस्वभाव का आश्रय करते हैं, वे ही मुक्ति पाते हैं, इसलिए ज्ञानस्वभाव का आश्रय करके ज्ञानरूप परिणमना, यही आगम की आज्ञा है।

卐 ❁ 卐

चैतन्यस्वरूप की अद्‌भुत महिमा!

देखो! इस चैतन्यस्वरूप की अद्‌भुत महिमा! उसके ज्ञानस्वभाव में समस्त ज्ञेय पदार्थ स्वयमेव झलकते हैं किन्तु वह स्वयं ज्ञेयरूप नहीं परिणमता है और उस झलकने में (जानने में) विकल्प का अंश भी नहीं है; इसलिए उसके निर्विकल्प, अतीन्द्रिय, अनुपम, बाधारहित और अखण्ड सुख उत्पन्न होता है। ऐसा सुख संसार में नहीं है; संसार में तो दुःख ही है। अज्ञानी जीव, इस दुःख में भी सुख का अनुमान करते हैं किन्तु वह सच्चा सुख नहीं है।

— समाधिमरण, पण्डित गुमानीरामजी

ज्ञानी न चाहे पुण्य को

अज्ञानी चैतन्यवस्तु का भान भूलकर राग की धुन में चढ़ गया है। ज्ञानी चैतन्य की धुन के कारण राग को जरा भी नहीं चाहता। शुद्ध आत्मा के सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान-अनुभवरूप जो मोक्षमार्ग है, उसे ही ज्ञानी सेवन करता है; पुण्य को जरा भी मोक्षमार्ग नहीं मानता। जिसे पुण्य की रुचि है, उसे संसार की रुचि है, परन्तु मोक्ष की रुचि नहीं। मोक्ष तो आत्मा की पूर्ण शुद्धता है, तो उसका मार्ग भी शुद्धतारूप ही होगा। राग तो अशुद्धता है; अशुद्धता, वह शुद्धता का मार्ग कैसे होगा? होगा ही नहीं। श्रीमद् राजचन्द्र कहते हैं कि—

मोक्ष कहा निज शुद्धता वह पावे सो पन्थ;
समझाया संक्षेप में, सकल मार्ग निर्ग्रन्थ।

आत्मसिद्धि, गाथा 123

आचार्य भगवान कहते हैं कि आत्मस्वभाव के आश्रय से होनेवाले जो श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र हैं, वही परमार्थ मोक्षमार्ग है; इसके अतिरिक्त बहिर्मुख वृत्तिरूप व्रत, तप इत्यादि शुभकर्म को कितने ही लोग मोक्ष हेतु मानते हैं, परन्तु वह समस्त ही यहाँ निषेध किया गया है। राग, मोक्ष का हेतु हो—यह बात जिन भगवान के मार्ग में अत्यन्त निषेध की गयी है। राग को ही मोक्ष का साधन माने, उसे किंचित् भी मोक्षमार्ग नहीं होता, वह तो राग में ही तन्मय वर्तता हुआ अज्ञानभाव से संसार में ही भटकता है। पुण्य-पाप से पार चैतन्य का निर्विकल्प अनुभव चौथे गुणस्थान में गृहस्थ को भी होता है और ऐसा अनुभव करे, तभी मोक्ष साधन की शुरुआत होती है।

व्यवहार के आश्रय से मोक्षमार्ग नहीं सधता; मोक्षमार्ग तो परमार्थस्वभाव के आश्रय से ही सधता है। परमार्थरूप ऐसे ज्ञानस्वभाव के आश्रय से ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग प्रवर्तता है, इसलिए जो परमार्थस्वभाव का आश्रय करते हैं, वे ही मुक्ति को प्राप्त करते हैं। जो निश्चय के विषय को छोड़कर व्यवहार के

आश्रय में प्रवर्तते हैं, व्यवहार के आश्रय से लाभ होना मानते हैं, वे मोक्ष को प्राप्त नहीं करते परन्तु संसार में भटकते हैं। व्रत, तप इत्यादि शुभकर्म कैसे हैं? कि परमार्थ मोक्ष हेतु से भिन्न हैं, अर्थात् कि बन्ध के ही हेतु हैं, तथापि अज्ञानी उन्हें मोक्षहेतु मानते हैं। इस मान्यता का सर्वथा निषेध किया गया है, अर्थात् कि शुभकर्म द्वारा जरा भी मोक्षमार्ग नहीं होता—ऐसा प्रतिपादन किया गया है।

भले कोई विद्वान हो या शास्त्र पढ़ा हुआ हो, परन्तु यदि शुभराग के आश्रय से किंचित् भी मोक्षमार्ग होना मानता हो तो वह भगवान के मार्ग से भ्रष्ट है, वह भगवान के कहे हुए शास्त्र के रहस्य को नहीं जानता। वास्तव में तो वह विद्वान नहीं, परन्तु मूढ़ है।

अरे भाई! तू शास्त्र में से क्या पढ़ा? मोक्ष का पन्थ आत्मा के आश्रय से होगा या राग के आश्रय से? व्यवहार अर्थात् पर का आश्रय, तो पर के आश्रय से मोक्षमार्ग कैसे होगा? भाई! तूने पर के आश्रय की बुद्धि नहीं छोड़ी और स्वतत्त्व की ओर तेरा मुख नहीं मोड़ा तो तेरी विद्वत्ता किस काम की? और तेरा शास्त्र पठन किस काम का? विद्वत्ता तो उसे कहा जाता है कि जिससे स्वाश्रय करके अपना हित सधे। स्वाश्रय वीतरागभाव प्रगट हो, यही शास्त्र का उपदेश है। आत्मा के मोक्ष का कारण आत्मा के स्वभाव से पृथक् नहीं होता। आत्मा ज्ञानस्वभावी है और राग तो उससे भिन्न चीज़ है, इसलिए राग द्वारा मोक्षमार्ग का परिणमन नहीं होता। पुण्यभाव भी बन्ध का ही कारण है, मोक्ष का नहीं।

मुमुक्षु : पुण्य को कहीं तो रखो?

पूज्य गुरुदेवश्री : रखा न!

मुमुक्षु : कहाँ रखा?

पूज्य गुरुदेवश्री : पूरा-पूरा बन्धमार्ग में रखा।

मोक्षमार्ग पुण्य के आश्रय से नहीं है; मोक्षमार्ग तो ज्ञानस्वभाव के ही आश्रय से होता है। आचार्यदेव कहते हैं कि अरे पण्डितों! यदि तुम व्यवहार के आश्रय से

मोक्षमार्ग मानते हो तो भगवान के आगम में ऐसा नहीं कहा है। भगवान ने तो परमार्थ स्वभाव के आश्रय से मोक्षमार्ग कहा है और व्यवहार के आश्रय का फल तो संसार ही कहा है।

करना है आत्मा का मोक्ष और आश्रय लेना है आत्मा से विरुद्ध ऐसे राग का!—इसमें विद्वत्ता नहीं परन्तु विपरीतता है। चैतन्यभाव और रागभाव के बीच भेदज्ञान करके, चैतन्य का आश्रय करना और राग का आश्रय छोड़ना—यही वास्तविक विद्वत्ता है और यह एक ही मोक्षमार्ग है, दूसरा कोई मोक्षमार्ग नहीं है। ऐसे ज्ञानमय मोक्षमार्ग का तुम सेवन करो और पुण्य का पक्ष छोड़ो।

卐 ❀ 卐

दुःख के कारणों से दूर हट जा

भाई! तेरे दुःख की कथा तो इतनी बड़ी है कि उसे पूर्णतः केवली भगवान ही जानते हैं; कथन में तो अल्प ही आता है। मिथ्यात्वादि कैसे भाव तुमने सेये और उनके सेवन से तुम कैसे दुःखी हुए? — यह बात सुनो! सुनकर अब उनका सेवन छोड़ दो। तुमको किसी दूसरे ने नहीं रुलाया, किन्तु अपने मिथ्यात्वभाव से ही तुम रुले और दुःखी हुए। मिथ्यात्व और राग-द्वेष, दुःख के कारण हैं। राग, अशुभ हो या शुभ, दोनों में दुःख है। शुभ से भले स्वर्ग मिले, किन्तु वह भी दुःख है। शुभराग से स्वर्ग मिल जाए, किन्तु कहीं भी शुभराग से आत्मा नहीं मिल सकता अथवा आत्मा के सम्यग्दर्शनादि कोई गुण, शुभराग से नहीं मिलते। राग तो स्वयं दोष है, उसके द्वारा गुण की प्राप्ति कैसे हो? कभी नहीं होती। मिथ्यात्व और राग, स्वयं ही दुःख है, उसका फल भी दुःख है, तब फिर वह मोक्षसुख का कारण कैसे हो सकता है? नहीं हो सकता, किन्तु अज्ञानी उसको सुख का कारण समझ रहा है। जो वीतराग-विज्ञान है, वह सुख है; जो राग-द्वेष-अज्ञान है, वह दुःख है — ऐसा जानकर, हे जीव! दुःख के कारणों से तू दूर हट जा और सुख के लिये वीतराग-विज्ञान को प्रकट कर।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, छहढाला प्रवचन

चैतन्य विद्या का अभ्यास

卐

हे भाई! कलवल करना छोड़ और आत्मा के अभ्यास में चित्त को जोड़

जिसे आत्मा का अनुभव करने के लिये लगन लगी है, ऐसे शिष्य को सम्बोधन कर 34 वें कलश में आचार्यदेव कहते हैं कि हे भव्य! विरम... जगत के दूसरे कोलाहल से तू विरक्त हो। बाहर के कोलाहल से तुझे कुछ लाभ नहीं है, इसलिए उससे तू विरक्त हो। बाह्य कोलाहल को एक ओर रखकर अन्तर में चैतन्य को देखने का अभ्यास कर। समस्त परभावों के कोलाहल से रहित ऐसे चैतन्यस्वरूप को देखने के लिये निभ्रत हो। निभ्रत होकर अर्थात् शान्त होकर, निश्चल होकर, एकाग्र होकर विश्वासु होकर, स्थिर होकर, गुप्त रीति से, चुपचाप, विनीत होकर, केलवाल होकर, दृढ़ होकर अन्तर में चैतन्य को देखने के अभ्यास में तेरा चित्त बराबर जोड़। एक बार छह महीने तक ऐसा अभ्यास करके तू विश्वास करके देख कि ऐसा करने से तेरे हृदय सरोवर में पुद्गल से भिन्न ऐसे चैतन्यप्रकाश की प्राप्ति होती है या नहीं? छह महीने में तो अवश्य प्राप्ति होगी।

हे भाई! तेरी बुद्धि से देह और रागादि को अपना मानकर उसका अभ्यास अनन्त काल से करता है, तथापि तुझे चैतन्य विद्या प्राप्त नहीं हुई, और तेरा आत्मा अनुभव में नहीं आया और तू अज्ञानी ही रहा है। इसलिए अब तेरी उस मिथ्याबुद्धि को छोड़कर हम कहते हैं, उस प्रकार से तू अभ्यास कर। ऐसे अभ्यास से छह महीने में तो तुझे अवश्य चैतन्य विद्या प्राप्त होगी। छह महीने तक लगनपूर्वक अभ्यास करने से तुझे अवश्य आत्मा का अनुभव होगा। भाई! छह महीने तो हम अधिक में अधिक कहते हैं। यदि उत्कृष्ट आत्मलगनीपूर्वक तू प्रयत्न करेगा तो दो घड़ी में ही तुझे आत्मा का अनुभव होगा।

आहा! देखो तो सही... यह चैतन्य के अनुभव का मार्ग कितना सरल और

सहज है! चैतन्य का अनुभव सरल और सहज होने पर भी, दुनिया के व्यर्थ कोलाहल में जीव रुक गया होने से उसे यह दुर्लभ हो पड़ा है। इसलिए आचार्यदेव विशिष्ट शर्त रखते हैं कि दुनिया का व्यर्थ कोलाहल छोड़कर चैतन्य के अनुभव का अभ्यास कर। एक चैतन्यतत्त्व के अतिरिक्त दूसरा सब भूल जा। इस प्रकार मात्र चैतन्य का ही अभिलाषी होकर अन्तर में उसके अनुभव का अभ्यास कर तो उसकी प्राप्ति क्यों नहीं होगी? अवश्य होगी। कितने समय में?—कि मात्र दो घड़ी में! कदाचित् तुझे कठिन लगे और देरी लगे तो भी अधिक में अधिक छह महीने में तो अवश्य आत्मा की प्राप्ति होगी। इस प्रकार आत्म-प्राप्ति के अभ्यास का अधिकतम कोर्स छह महीने का है। छह महीने के एकधारा सच्चे अभ्यास से आत्म-प्राप्ति अवश्य होती है।

यहाँ 'अधिक से अधिक छह महीने' कहकर कहीं काल की गिनती पर वजन नहीं देना है परन्तु शिष्य को आत्मलगनी के भाव कैसे उग्र हैं, यह बतलाना है। सम्पूर्ण जगत की दरकार छोड़कर जो शिष्य आत्मा का अनुभव करने के लिये तैयार हुआ, वह शिष्य काल के माप के सन्मुख नहीं देखता कि 'कितना काल हुआ?' वह तो अन्तर में चैतन्य को पकड़ने के अभ्यास में गहरा और गहरा उतरता जाता है, क्षण-क्षण में चैतन्यस्वभाव के नजदीक और नजदीक होता जाता है। ऐसा का ऐसा धारावाही अभ्यास ठेठ आत्मा का अनुभव होने तक वह चालू ही रखता है। ऐसे अनुभव के अभ्यास में, उसे स्वयं को ही अन्तर में प्रतिभासित होता है कि मेरे चिदानन्दस्वभाव की शान्ति अब निकट में ही है। सुख के समुद्र को स्पर्श कर ठण्डी हवा आ रही है, अब सुख का समुद्र एकदम निकट ही है। इससे आचार्यदेव ने कहा कि—हे भाई! छह महीने ऐसा अभ्यास करने से, तुझे स्वयं को ही हृदय में चैतन्य का विलास दिखाई देगा। इसलिए दूसरी उल्टी-सीधी अभी तक की अभ्यास की हुई तेरी दलीलें एक ओर रख और यह अन्तर में चैतन्य के अनुभव का अभ्यास कर।

देखो, यह चैतन्य विद्या का अभ्यास! यह चैतन्य विद्या तो भारत की मूल

विद्या है। पूर्व में तो बालपन से ही भारत के बालकों में ऐसी चैतन्य विद्या के संस्कार सिंचन करते थे। मातायें भी धर्मात्मा थीं, वे अपने बालकों को ऐसे उत्तम संस्कार सिखलाती थीं और बालक भी अन्तर में अभ्यास करके—अन्तर में उतरकर—आठ-आठ वर्ष की उम्र में आत्मा का अनुभव करते थे। भारत में चैतन्य विद्या का ऐसा जोरदार धर्मकाल था। उसके बदले आज तो इस चैतन्य विद्या का श्रवण मिलना भी कितना दुर्लभ हो पड़ा है!! परन्तु जिसे हित करना हो और शान्ति चाहिए हो, उसे यह चैतन्य विद्या सीखना ही पड़ेगी। इसके अतिरिक्त जगत की दूसरी किसी विद्या द्वारा आत्मा को हित या शान्ति का अंश भी प्राप्त हो, ऐसा नहीं है। इसलिए हे जीव! 'यह बात हमें समझ में नहीं आती... कठिन लगती है... अभी हमें समय नहीं है'—ऐसा व्यर्थ का कोलाहल करना छोड़ और इस चैतन्य के अभ्यास में ही तेरे आत्मा को जोड़। छह महीने एक धारा अभ्यास करने से तुझे अवश्य आत्मज्ञान और आत्मशान्ति होगी।

卐 ❀ 卐

सिर पर मौत मंडरा रही है

मरण तो आना ही है, तब सब कुछ छूट जाएगा। बाहर की एक वस्तु छोड़ने में तुझे दु:ख होता है, तो बाहर के समस्त द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव एक साथ छूटने पर तुझे कितना दु:ख होगा? मरण की वेदना भी कितनी होगी? 'कोई मुझे बचाओ' - ऐसा तेरा हृदय पुकारता होगा, परन्तु क्या कोई तुझे बचा सकेगा? तू भले ही धन के ढेर लगा दे, वैद्य-डाक्टर भले सर्व प्रयत्न कर लें, आस-पास खड़े हुए अनेक सगे -सम्बन्धियों की ओर तू भले ही दीनता से टुकुर-टुकुर देखता रहे, तथापि क्या कोई तुझे शरणभूत हो ऐसा है? यदि तूने शाश्वत स्वयंरक्षित ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा की प्रतीति-अनुभूति करके आत्म-आराधना की होगी, आत्मा में से शान्ति प्रगट की होगी, तो वह एक ही तुझे शरण देगी। इसलिए अभी से वह प्रयत्न कर। 'सिर पर मौत मंडरा रही है' - ऐसा बारम्बार स्मरण में लाकर तू पुरुषार्थ जगा कि जिससे 'अब हम अमर भये, न मरेंगे' ऐसे भाव में तू समाधिपूर्वक देहत्याग कर सके।

- बहिनश्री के वचनामृत, क्रमाङ्क ४१२

महावीर की क्रिया और महावीर के उपवास

प्रश्न : मात्र आत्मा शुद्ध है, ऐसा समझ जाने से क्या मोक्ष हो जाता होगा? कुछ शरीर की क्रिया भी करनी चाहिए न? महावीर प्रभु ने भी मुनिदशा में बारह वर्ष तक कष्ट सहन किये और उपवास इत्यादि क्रियायें कीं, तब उन्हें मुक्ति प्राप्त हुई न?

पूज्य गुरुदेवश्री : भाई! तेरी बात अक्षर... अक्षर... मिथ्या है। आत्मा किसे कहना, इसका भी तुझे भान नहीं तो फिर भगवान के आत्मा ने क्या किया, उसकी तो तुझे कहाँ से खबर पड़ेगी? तुझे आत्मा की क्रिया दिखती नहीं, मात्र जड़ की क्रिया दिखती है। भगवान दु:ख सहन कर-करके मुक्ति को प्राप्त हुए या आत्मा के आनन्द का अनुभव करते-करते मुक्ति को प्राप्त हुए? उपवास आत्मा में होता होगा या शरीर में? उपवास करना, वह सुखरूप होगा या दु:खरूप होगा? भगवान ने दु:खरूप लगें, ऐसे उपवास नहीं किये थे, परन्तु अन्तर के चैतन्यसमुद्र में डुबकी मारकर आत्मिक आनन्दरस के स्वाद के अनुभव में ऐसे लीन थे कि आहार का विकल्प ही उत्पन्न नहीं हुआ और ऐसे उपवास भगवान ने किये थे।

अज्ञानियों ने अन्तर में होनेवाली आत्मा की क्रिया को नहीं पहिचाना और बाहर में आहार का संयोग नहीं हुआ, इस बात को पकड़ लिया और उसी में धर्म मान लिया। आहार तो जड़ है, परवस्तु है। परवस्तु का ग्रहण या त्याग आत्मा नहीं कर सकता। अन्तर में निरूपाधिक आत्मस्वभाव क्या है, उसके भान बिना चैतन्य में लीनता होगी कहाँ से? शुद्धचैतन्यतत्त्व को जानकर-मानकर उसके ही अनुभव में एकाग्र होना, वह धर्मी जीवों की क्रिया है, वह क्रिया करने से मुक्ति होती है। इसके अतिरिक्त शरीर की किसी क्रिया से अथवा विकारीभावरूप क्रिया से धर्म या मुक्ति नहीं होती।

सभी आत्माओं का पवित्र निरूपाधिक स्वभाव है; स्वभाव में विकार तीन काल में नहीं है; तथापि वर्तमान अवस्था में जो विकार होता है, उसे ही अपना

स्वरूप मानकर उसके अनुभव में रुक जाये और उससे रहित जो त्रिकाली शुद्धस्वभाव है, उसे न माने और अनुभव न करे तो उसका अज्ञान मिटता नहीं है।

हे जीव! त्रिकाली शुद्धस्वभाव को समझे बिना श्रद्धा को कहाँ एकाग्र करेगा? और ज्ञान को कहाँ स्थिर करेगा? मुझे निर्विकल्प शुद्धस्वभाव के साथ एकता है और विकार से पृथक्ता है—ऐसी श्रद्धा-ज्ञान और अनुभव करने के पश्चात् विकार हो, उसे साधक जीव अपने स्वरूपरूप से अनुभव नहीं करता; इसलिए शुभाशुभ विकार के समय भी शुद्धस्वभाव के श्रद्धा-ज्ञानरूप धर्म बना रहता है; और साधक जीव सदा इसी प्रकार से स्वभाव में एकतारूप और विकार से पृथक्रूप परिणमते हुए शुद्धता की पूर्णता करके केवलज्ञान प्रगट करता है।

卐 ❁ 卐

रुचि और पुरुषार्थ

जिसे जिस वस्तु की रुचि हो, उस वस्तु की वह मर्यादा नहीं बाँधता, उसकी हद नहीं बाँधता। जिसे पैसे की रुचि हो, वह लाख-दो लाख या करोड़, ऐसी मर्यादा नहीं बाँधता, परन्तु जितने रुपये मिलें, उतने लेने की भावना होती है; उसी प्रकार जिसे आत्मा की रुचि हुई हो, वह आत्महित के लिये कुछ भी मर्यादा नहीं बाँधता। आत्मा के बेहद स्वभाव की रुचि हुई तो उसमें कोई हद नहीं हो सकती, परन्तु काल की और पुरुषार्थ की मर्यादा तोड़कर बेहद पुरुषार्थ द्वारा सम्पूर्ण स्वरूप प्राप्त करता ही है।

'आत्मा का स्वरूप दो-तीन दिन में या अमुक समय तक प्राप्त हो तो लेना।' ऐसी जो काल की मर्यादा बाँधकर स्वरूप प्राप्त करना चाहता है, उसे आत्मा की रुचि ही नहीं है। यदि वास्तव में आत्मा की रुचि हो तो मर्यादा नहीं होती। संसार के कार्य अनन्त-अनन्त काल से करता आया है, तथापि उसकी कोई अवधि नहीं

बाँधता और यहाँ मोक्षसाधन में अवधि बाँधता है तो उसे आत्मा की रुचि नहीं है, परन्तु संसार की ही रुचि पड़ी है। यदि तुझे वास्तव में आत्मा की रुचि हो तो संसारभाव छोड़कर आत्मा के लिये ही जीवन अर्पित कर दे!

अरे! एक तो क्या, परन्तु अनन्त-अनन्त भव आत्मा के लिये देने पड़े तो भी देने के लिये तैयार हूँ, चाहे जो हो परन्तु मुझे तो आत्मा का करना ही है—ऐसी आत्मा की रुचि करके काल की मर्यादा तोड़ डाल! ऐसा करने से अनन्त भव का नाश होकर अल्प काल में ही तेरी मुक्ति अवश्य हो जायेगी। काल की मर्यादा तोड़कर जो आत्मा के लिये अनन्त भव अर्पण करने को तैयार हुआ है, उसे भव होते ही नहीं। आत्मा के ओर की यथार्थ रुचि होने से उस रुचि के जोर से काल की मर्यादा तोड़कर उग्र पुरुषार्थ द्वारा वह एक-दो भव में ही मुक्त हो जानेवाला है! परन्तु यदि काल की मर्यादा बाँधी तो अनन्त काल में भी जन्म-मरण का अन्त नहीं आयेगा। मर्यादा के लक्ष्य से मुक्ति का अमर्यादित पुरुषार्थ प्रस्फुटित नहीं होगा। जिस ओर की रुचि हो, उस ओर का पुरुषार्थ होता है; इसलिए प्रथम क्षेत्र-कालादि की मर्यादा को तोड़कर रुचि को बदलो।

卐 ❁ 卐

जिनमत की आम्नाय

जिन धर्म में यह तो आम्नाय है कि पहले बड़ा पाप छुड़ाकर फिर छोटा पाप छुड़ाया है; इसलिए इस मिथ्यात्व को सप्त व्यसनादिक से भी बड़ा पाप जानकर पहले छुड़ाया है। इसलिए जो पाप के फल से डरते हैं; अपने आत्मा को दु:ख समुद्र में नहीं डुबाना चाहते, वे जीव इस मिथ्यात्व को अवश्य छोड़ो; निन्दा-प्रशंसादिक के विचार से शिथिल होना योग्य नहीं है। — *मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 192*

आत्मा की क्रिया

मुमुक्षु : आत्मा क्या कर सकता है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : आत्मा चैतन्यस्वरूप है, इसलिए चैतन्य के उपयोग के अतिरिक्त दूसरा कुछ भी नहीं कर सकता।

मुमुक्षु : यदि आत्मा उपयोग के अतिरिक्त दूसरा कुछ नहीं कर सकता हो तो संसार-मोक्ष किसलिए ?

पूज्य गुरुदेवश्री : आत्मा उपयोग के अतिरिक्त दूसरा तो कुछ कर ही नहीं सकता। चैतन्य का उपयोग परसन्मुख लक्ष्य करके परभाव में दृढ़ता करे, वह संसार है और स्वसन्मुख लक्ष्य करके स्व में दृढ़ता करे, वह मुक्ति है। या तो स्वसन्मुख का उपयोग करके स्व में दृढ़ता करे अथवा परसन्मुख का उपयोग करके परभाव में दृढ़ता करे, इसके अतिरिक्त दूसरा कुछ भी अनादि से कोई जीव कर सका नहीं है और अनन्त काल में कभी भी कर नहीं सकेगा।

मुमुक्षु : यदि आत्मा मात्र उपयोग के अतिरिक्त दूसरा कुछ कर ही नहीं सकता तो शास्त्र किसलिए है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : बारह अंग और चौदह पूर्व, इन सबका हेतु मात्र एक ही है कि चैतन्य का उपयोग परसन्मुख ढला है, उसे स्वसन्मुख झुकाकर स्व में दृढ़ता करना। इस प्रकार उपयोग बदलने की बात है और इस बात को शास्त्र में अनेक पहलुओं से समझाया जाता है।

मुमुक्षु : संसारी की और सिद्ध की क्रिया में क्या अन्तर ?

पूज्य गुरुदेवश्री : चैतन्य का उपयोग ही आत्मा की क्रिया है। निगोद से लेकर सिद्ध भगवान तक के सभी जीव उपयोग ही करते हैं, उपयोग के अतिरिक्त दूसरा कुछ कोई जीव नहीं करता। अन्तर इतना है कि निगोद इत्यादि संसारी अज्ञानी जीव अपना उपयोग परसन्मुख करके परभाव में एकाग्र होते हैं; जबकि सिद्धभगवान

इत्यादि अपने शुद्धस्वभाव में उपयोग उन्मुख कर स्वभाव में एकाग्र होते हैं। परन्तु सिद्ध या निगोद कोई भी जीव उपयोग के अतिरिक्त पर का कुछ भी नहीं कर सकते। स्त्री-कुटुम्ब-लक्ष्मी या देव-गुरु-शास्त्र इत्यादि सब पर हैं, उनका आत्मा कुछ नहीं कर सकता। आत्मा मात्र उस ओर का शुभ या अशुभ उपयोग करे, परन्तु शुभ और अशुभ, ये दोनों उपयोग परसन्मुख के होने से 'अशुद्ध उपयोग' कहलाते हैं और स्वसन्मुख का उपयोग 'शुद्ध उपयोग' कहलाता है। इस सम्बन्ध में ऐसा सिद्धान्त है कि परलक्ष्य से बन्धन और स्वलक्ष्य से मुक्ति। जहाँ परलक्ष्य हुआ, वहाँ शुभभाव होवे तो भी अशुद्ध उपयोग ही है और वह संसार का कारण है; तथा जहाँ स्वलक्ष्य हुआ, वहाँ शुद्ध उपयोग ही है और वह मुक्ति का कारण है।

❁ अरे जीव! विरोध छोड़कर अन्तर से हाँ पाड़!

❁ यह तो तेरी प्रभुता तुझे समझायी जाती है।

साक्षात् चैतन्यमूर्ति निर्मलस्वरूप आत्मा को समझे बिना जन्म-मरण मिटाने का अन्य कोई मार्ग नहीं है। नित्य अविकारी ध्रुव चैतन्यस्वभाव को लक्ष्य में न ले, उस जीव को धर्म नहीं होता और भव नहीं घटते। जिसे चैतन्यस्वभाव का भान नहीं, वह जीव मन, वाणी, देह की प्रवृत्ति अथवा पुण्य में धर्म मानकर अटकता है और उसका फल बन्धनरूप संसार है। जिसे इस बात का लक्ष्य नहीं, उसने बाह्य प्रवृत्ति में कृतकृत्यता मानी होती है; इसलिए उसकी मान्यता से उल्टी बात जब ज्ञानी सुनाते हैं कि 'बाह्य प्रवृत्ति से और पुण्य से धर्म नहीं होता', तब यह बात सुनते हुए वह सत्य तत्त्व का विरोध करता है।

जैसे पेड़ा देने के लिये बालक से चूसनी छुड़ाई जाती है, तब वह चिल्लाहट मचाता है; उसी प्रकार मुक्तिरूपी पेड़ा का स्वाद चखाने के लिये बाल जीवों की विपरीत मान्यतारूपी लकड़ी की चूसनी की पकड़ छुड़ाई जाती है, तब वे चिल्लाहट मचाते हैं, परन्तु उनको खबर नहीं कि ज्ञानी उनके हित की बात कहते हैं।

जो पर की क्रिया से धर्म माननेवाले हैं तथा पुण्य करते-करते उससे आत्मशुद्धि

होगी, ऐसा मानकर विकार के स्वाद में ही अटक गये हैं, उनसे ज्ञानी कहते हैं कि हे भाई! तुम्हारी यह विपरीत मान्यतारूपी लकड़ी की चूसनी से सुख का स्वाद नहीं आयेगा, इसलिए इसे छोड़ो और तुम्हारे स्वाधीन स्वभाव की अन्तर से हाँ करो, तो स्वभाव के संवेदन में तुम्हें सच्चे सुख का स्वाद आयेगा।

मैं पर से पृथक् साक्षात् चैतन्य ज्योति, अनन्त आनन्द की मूर्ति हूँ—ऐसा समझे बिना जितने शुभराग करे, वे सब मुक्ति के लिये व्यर्थ है। ऐसा सुनते हुए कोई अज्ञानी विरोध करता है कि अरे रे! हमारा सब उड़ जाता है। परन्तु प्रभु! विरोध न कर... इनकार न कर... यह तो तेरी प्रभुता तुझे समझायी जाती है। तेरा अनन्त महिमावान स्वभाव हम तुझे समझाते हैं, तब तू उसका विरोध करके असत्य का आदर करे—यह कैसे शोभे?

जिस प्रकार कोई खानदानी पुत्र व्यभिचारी हुआ और उसे उसके पिता उलहाना दे कि भाई रे! खानदान को यह शोभा नहीं देता... तेरी जाति लज्जित होती है; उसी प्रकार आत्मा के चैतन्यघर को छोड़कर जो पुण्य-पाप की प्रवृत्तिरूप कुसंग में धर्म मानता है, उसे परमपिता श्री तीर्थंकरदेव शिक्षा देते हैं कि अरे जीव! तू हमारी जाति का है। यह व्यभिचारपना तुझे शोभा नहीं देता, इसमें तेरी प्रभुता लज्जित होती है। तेरी नात-जाति सिद्ध परमात्मा समान है। यह विकार तेरी शोभा नहीं - ऐसा कहकर अज्ञानी जीव को पुण्य-पापरहित उसका ज्ञानस्वभाव समझाते हैं।

अहो! परमसत्य की ऐसी बात कान में पड़ना भी बहुत दुर्लभ है। अनन्त काल में ऐसा मूल्यवान अवसर मिला है, तब भी यदि अपूर्व सत्य समझकर स्वतन्त्र वस्तुस्वभाव का सामर्थ्य नहीं स्वीकार करे तो चौरासी के अवतार के भटकाभटक मिटेगी नहीं। इसलिए जो जीव इस भटकाभटक से थका हो, उसे धीर होकर अन्तर में यह बात समझनेयोग्य है।

सिद्धत्व के लक्ष्य से... साधकपने की शुरुआत

यह आत्मस्वभाव की अपूर्व बात समझे बिना जीव अनन्त बार नौवें ग्रैवेयक में पुण्य के फल से गया। 'मैं स्वाधीन स्वरूप हूँ, पर के आश्रयरहित हूँ' यह भूलकर जैन के महाव्रतादि भी किये, वस्त्र धागे बिना की नग्न-दिगम्बरदशा धारणकर उग्र शुभभावसहित पाँच महाव्रत अनन्त बार पालन किये। उत्कृष्ट तप किये, कोई अग्नि से जला डाले, तथापि जरा भी क्रोध न करे —ऐसी शुभभावरूप क्षमा अनन्त बार रखी, तो भी सर्वज्ञ भगवान कहते हैं कि धर्म नहीं हुआ। मात्र ऐसे ऊँचे पुण्य करके अनन्त बार स्वर्ग में गया, परन्तु मैं पर से निराला हूँ, पुण्य-पाप की वृत्ति उठे, उससे परमार्थ से भिन्न ही हूँ। मन की-राग की सहायता से शुद्धदशा प्रगट नहीं होती; ऐसे स्वरूप की पूर्ण स्वाधीनता की बात जँची नहीं।

इसलिए यहाँ समयसार शास्त्र की शुरुआत में आचार्यदेव सर्वसिद्धों को भाव तथा द्रव्यस्तुति से अपने तथा पर के आत्मा में स्थापित कर, उसका विवेचन करते हैं। किसी को यह बात बड़ी लगे, परन्तु पूर्ण स्वरूप स्वीकार किये बिना पूर्ण की शुरुआत कैसे होगी? ज्ञानी कहते हैं कि 'तू प्रभु है' यह सुनने पर अज्ञानी भड़क उठता है और कहता है कि अरे! मुझे प्रभु कैसे कहा? ज्ञानी कहते हैं कि सब आत्मा प्रभु है। बाह्य विषय-कषाय में जिसकी दृष्टि है, वह आत्मा को प्रभुरूप से मानने से इनकार करता है परन्तु यहाँ कहते हैं कि 'मैं सिद्ध हूँ' ऐसा विश्वास करके 'हाँ' पाड़। पूर्णता के लक्ष्य बिना वास्तविक शुरुआत नहीं है। 'मैं पामर हूँ, हीन हूँ' ऐसा मानकर जो कुछ करे, वह कुछ परमार्थ से शुरुआत नहीं है। 'मैं प्रभु नहीं'—ऐसी 'ना' कहने से 'हाँ' नहीं आती, अर्थात् साधकपने की शुरुआत नहीं होती। अलसिया को कोई दूध-मिश्री पिलावे तो भी वह नाग नहीं होता, उसी प्रकार प्रथम से आत्मा को हीन मानकर पूर्णता का पुरुषार्थ करना चाहे तो नहीं होगा। कणो अलसिया जितना होने पर भी फुंफकार मारता हुआ नाग है, कड़क वीर्यवाला है। छोटा नाग भी फणीधर साँप है, उसी प्रकार आत्मा वर्तमान अवस्था में निर्बलतावाला दिखाई देने पर भी स्वभाव से तो सिद्ध जैसा पूर्ण है। पूर्णता के लक्ष्य से उठा हुआ साधक पूर्ण हुए बिना नहीं रहता। इसलिए श्री आचार्यदेव प्रथम से ही पूर्ण सिद्ध साध्यपने से बात शुरु करते हैं। कितना उत्साह है!!!

ज्ञानी के आत्म-अनुभव की महिमा और ऐसे आत्मानुभव की प्रेरणा

[असोज कृष्ण चौथ का प्रवचन : समयसार गाथा 206]

सुखी होने के लिये आचार्यदेव कहते हैं कि हे जीव! जितना ज्ञान का अनुभव है, उतना ही सच्चा आत्मा है। ऐसा जानकर तू ज्ञानमात्र में प्रीति कर, उससे ही सन्तुष्ट हो और उससे ही तृप्त हो अर्थात् कि तू आत्मा में रुचि लगा। ऐसा करने से तेरे अन्तर में तुझे परमसुख का अनुभव होगा।

卐

पहले तो ज्ञान की कला द्वारा ऐसा भेदज्ञान करो कि जो ज्ञान है, वह आत्मा है और राग, वह आत्मा नहीं। परद्रव्यसन्मुख की वृत्ति, वह फिर अशुभ हो या शुभ हो, वह आत्मा नहीं है; स्वपने अनुभव में आता ज्ञान ही आत्मा है। ऐसे ज्ञान के स्वसंवेदन की कला, वह मोक्ष की कला है। आत्मा के अनुभव की यह कला ही सच्ची कला है, इसका बारम्बार अभ्यास करनेयोग्य है। दु:ख से छूटना हो और सुखी होना हो तो परभावों से भिन्न आत्मा को जानकर उसका ही अभ्यास करनेयोग्य है। वह अभ्यास किस प्रकार करना, यह बात इस 206वीं गाथा में आचार्यदेव समझाते हैं।

इसमें सदा रतिवन्त बन, इसमें सदा सन्तुष्ट रे,
इससे ही बन तू तृप्त उत्तम सौख्य हो जिससे तुझे।

तेरी चीज़ तो ज्ञानस्वरूप आत्मा है। शरीरादिक कहीं तेरी चीज़ नहीं है; आकुलताजनक रागादि क्षणिकभाव भी कहीं जीवरूप अनुभव में नहीं आते, इसलिए वे भी वास्तव में जीव नहीं है, तो सच्चा जीव कैसा है ? कि जितना यह अनुभव में आता हुआ ज्ञान है, उतना ही सत्य आत्मा है। इसलिए हे भव्य! तू ऐसे आत्मा में ही रति कर, उसका ही प्रेम कर, उसमें ही प्रीति कर। 'जितना ज्ञान, उतना सच्चा आत्मा'—ऐसा कहकर दूसरे सब परभाव निकाल डाले हैं।

जैसे मिश्री कितनी ?—कि जितनी मिठास है उतनी; कचड़ा या मैल मिश्री नहीं है। उसी प्रकार आत्मा कितना ? कि जितना ज्ञान है, उतना सच्चा आत्मा है; जड़ का संयोग या रागादि मलिनता आत्मा नहीं है। 'यह ज्ञानमय वस्तु ही मैं हूँ' ऐसा निर्णय करके उसका प्रेम कर। संयोग को और पुण्य-पाप के भावों को अपना मानकर तथा उनका प्रेम करके अनादि से दु:खी है, परन्तु वे तेरे नहीं हैं। इसलिए उन्हें भिन्न जानकर उनका प्रेम छोड़ और आत्मा को ज्ञानमय जानकर उसका प्रेम कर, तो तुझे उत्तम सुख होगा। परद्रव्य का प्रेम दुर्गति है—संसार है; स्वद्रव्य का प्रेम, वह सुगति है; सुगति अर्थात् मोक्ष। मोक्ष पर के आश्रय से नहीं होता, परन्तु ज्ञानमय स्वद्रव्य के आश्रय से होता है।

ज्ञान और आत्मा अर्थात् कि गुण और गुणी, वे एक चीज़ हैं और उतना ही सच्चा आत्मा है। राग और आत्मा, वह एक चीज़ नहीं है क्योंकि राग में तन्मयता द्वारा आत्मा अनुभव में नहीं आता; ज्ञान में तन्मयता द्वारा आत्मा अनुभव में आता है। राग की प्रीति करेगा तो आत्मा की प्रीति नहीं रहेगी। जो राग को साधन बनाकर उससे आत्मा का कल्याण मानता है, उस जीव को राग का प्रेम है, उसे चैतन्यस्वरूप आत्मा का प्रेम नहीं है। अरे! अभी तो बाहर की भभक में भी अर्पित हो जाए, वहाँ अन्दर में चैतन्यस्वरूप का प्रेम कब करे ? बहुत जीवों को तो चैतन्यस्वरूप आत्मा की बात सुनने की भी फुरसत नहीं, वे तो संसार के तीव्र प्रेम में डूबे हुए हैं। ऐसे जीव तो महादु:खी हैं।

भाई! बाहर के संयोग से या पुण्य के ठाठ से आत्मा का कुछ कल्याण नहीं है। ज्ञान के अनुभव से ही कल्याण है। ज्ञानस्वरूप आत्मा के अनुभव से ही सच्चा कल्याण है। अरे! राग का प्रेम, वह तो कुशील है। शुभराग का—पुण्य का प्रेम भी कुशील है, संसार में भटकानेवाला है। भले पुण्य स्वर्ग का भव करावे परन्तु वह भी संसार है, उससे जरा भी कल्याण नहीं है। पाप और पुण्य से पार ऐसा सहज ज्ञानस्वभाव जिसे रुचता है, वह तो राग का प्रेम नहीं करता, परन्तु ज्ञान का ही प्रेम करके उसका अनुभव करता है और उसे अपूर्व आनन्द होता है, कि जिस आनन्द की स्वयं को तत्क्षण खबर पड़ती है।

भाई! तुझे अच्छा करना है न? कल्याण करना है न? हाँ; तो अच्छा और कल्याण, वह तो आत्मा का ज्ञान ही है; राग अच्छा नहीं है तथा उससे कल्याण नहीं है। जन्म-मरण के क्लेश से छूटना हो और मोक्ष का अविनाशी कल्याण चाहिए हो, उसे अपने ज्ञानस्वरूप आत्मा को ही कल्याणरूप जानकर उससे सन्तुष्ट होना चाहिए। राग से कभी सन्तोष नहीं होता, उसमें तो विषयों की इच्छा और आकुलता ही है; राग स्वयं ही आकुलता है, तो उससे सन्तोष कैसा? ज्ञान है, वह निराकुल है; इसलिए उसके अनुभव से ही सन्तोष प्राप्त कर। इस भगवान आत्मा का प्रेम करके उससे सन्तोष प्राप्त कर। जहाँ अनन्त सुखस्वभाव से भरपूर अपना आत्मा देखा, वहाँ धर्मी को परम सन्तोष है; अब उसे दूसरे किसी परभाव की अभिलाषा नहीं रहती। अचिन्त्य शक्ति से भरपूर आत्मा के अनुभव में ही सर्व प्रयोजन की सिद्धि है, तो फिर ज्ञानी दूसरे को कैसे चाहे? मेरा सुख, मेरा आनन्द, मेरा कल्याण, मेरा ज्ञान— सब मुझमें परिपूर्ण है, ऐसे जहाँ आत्मा को अनुभव में लिया, वहाँ ज्ञानी को अपने आत्मा के अतिरिक्त दूसरा कुछ साध्य ही नहीं है, दूसरे किसी पदार्थ में सुखबुद्धि नहीं है।

ऐसे आत्मा के अनुभवरूप जो ज्ञान है, वही सच्चा कल्याण है; इसलिए ऐसे आत्मा में तू रुचि लगा, ऐसे आत्मा को तू प्रिय कर और उससे ही सन्तुष्ट हो। राग को प्रिय न कर, व्यवहार को प्रिय न कर, बाहर के किन्हीं भावों को प्रिय न कर, क्योंकि उनसे कल्याण नहीं है। आत्मा के ज्ञानानन्दस्वभाव को ही प्रिय करके उसका अनुभव कर, वही कल्याण है, वही मोक्षमार्ग है, परमसुख है। सुख अन्यत्र कहीं खोजने मत जा।

आत्मा को भूलकर जीव ने अनन्त बार शुभराग किया और इससे देवलोक में अनन्त बार गया, परन्तु उसे कभी सन्तोष नहीं हुआ, क्योंकि सन्तोष तो ज्ञान से ही है; राग से कभी सन्तोष है ही नहीं। राग में तो दुःख ही है, दाह है। शान्तरस का पिण्ड आत्मा है, उसके अनुभव से ही सच्चा सन्तोष है, वहाँ जगत के किसी पदार्थ की अभिलाषा नहीं रहती। बाहर के अमुक पदार्थ मिलें तो सन्तोष हो—ऐसा आत्मा

का स्वरूप नहीं है। ज्ञानस्वरूप आत्मा स्वयमेव अपने से ही सन्तोषस्वरूप है। सन्तोष कहो या आनन्द कहो; इस ज्ञानस्वरूप आत्मा का जितना अनुभव है, उतना आनन्द है, उतना कल्याण है और उतना सन्तोष है।

❁ **अहो! यह ज्ञानस्वरूप ही अनुभव करनेयोग्य है।**

❁ **हे जीव! उसके अनुभव से ही तू सदा तृप्त हो।**

आत्मा के कल्याण के लिये क्या करना, उसकी यह बात है; आत्मा ज्ञानमात्र है और ज्ञान, वह आत्मा है। ज्ञान से विरुद्ध ऐसे रागादि कोई भाव, वे सच्चा आत्मा नहीं है। इस प्रकार आत्मा को जानकर, उसका परम प्रेम करके, उससे सन्तोष पा और उसके अनुभव से ही तृप्त हो। इस प्रकार सदा आत्मा में रत, आत्मा से सन्तुष्ट और आत्मा से तृप्त ऐसे तुझे वचन से अगोचर सुख होगा और वह अतीन्द्रिय सुख तुझे तत्क्षण अनुभव में आयेगा। अपने अनुभव की अपने को ही खबर पड़ती है। दूसरे को पूछना नहीं पड़ता। 'मुझे आनन्द का अनुभव हुआ है या नहीं?' ऐसे किसी को पूछना नहीं पड़ता। अन्तर में उपयोग को झुकाकर उस 'आत्म उपयोग' द्वारा आत्मा को पकड़ा, वहाँ कोई अचिन्त्य आनन्द अनुभव में आता है और उसे धर्मी ही जानता है। अहो! ऐसा आत्मा ही अनुभव करनेयोग्य है।

धर्मी मुमुक्षुओं को अनुभव करनेयोग्य कोई हो तो यह आत्मा ही है। इसके ही अनुभव से सर्व दु:ख मिटकर परम आनन्द होता है। रागादि परभावों के अनुभव से तो आकुलता है, दु:ख है। उससे रहित ऐसा आत्मा ही अनुभव करनेयोग्य है। अतीन्द्रिय सुख कहो या परम आनन्द कहो, वह आत्मा के अनुभव से ही होता है। ऐसा अनुभव ही मोक्ष का मार्ग है, वही अमृत मार्ग है, वही चिन्तामणि रत्न है कि जिसके द्वारा इच्छित पद (सम्यग्दर्शन से लेकर केवलज्ञान) प्राप्त होता है। ऐसे ज्ञानस्वरूप आत्मा के अनुभव बिना दूसरे चाहे जो उपाय किये जायें, वह सब राग है—दु:ख है, संसार है; उससे जरा भी तृप्ति नहीं, शान्ति नहीं; उससे तो आकुलता है। जिसके वेदन से तृप्ति हो, ऐसा परम सुख आत्मा के अनुभव से ही है। इसलिए आचार्यदेव कहते हैं कि हे जीव! ज्ञानस्वरूप आत्मा को पहिचानकर उसकी प्रीति

कर, उससे सन्तुष्ट हो और उसका अनुभव करके उससे ही तृप्त हो... इससे तुझे परम आनन्द होगा।

आत्म-अनुभव की अपार महिमा

आत्मा के अनुभव की अपार महिमा है। आचार्यदेव कहते हैं कि अहो! जो यह ज्ञानस्वरूप आत्मा धर्मी के अनुभव में आया है, वह स्वयं ही अचिन्त्य शक्तिवाला देव है, चैतन्य चिन्तामणि है। जिस प्रकार चिन्तामणि द्वारा इच्छित वस्तु प्राप्त होती है; उसी प्रकार यह आत्मा चैतन्यचिन्तामणि है, इसके सेवन द्वारा (इच्छा बिना ही) सम्यग्दर्शन से लेकर केवलज्ञान तक के सर्व प्रयोजन सिद्ध हो जाते हैं।

जहाँ सर्व सिद्धि करनेवाला अपना आत्मा ही अनुभव में आया, वहाँ अब बाहर के दूसरे किसी पदार्थों के परिग्रह से और संकल्प-विकल्प से धर्मी को क्या प्रयोजन है? ज्ञानमूर्ति आत्मा प्राप्त हुआ, इसमें सब आ गया, अब बाहर के किसी भाव की वांछा धर्मी को नहीं होती, कहीं अंशमात्र आत्मबुद्धि नहीं रही। अहो! ऐसी आत्म-अनुभव की अपार महिमा है। यह अनुभव करना ही करनेयोग्य है, दूसरा कुछ करनेयोग्य नहीं है। सुख, आनन्द या मोक्ष ऐसे अनुभव से ही है। अहो! ज्ञानियों ने ऐसा अनुभव करके अपने में चैतन्य चिन्तामणि को प्राप्त किया है।

सर्वज्ञ शक्तिवाला चैतन्यदेव मैं हूँ—ऐसा जिसने अनुभव किया, उसे अब दूसरे किसकी सेवा करना रहा? सम्यग्दर्शन हुआ, वहाँ अनन्त निधानवाला पूरा आत्मा धर्मी ने पकड़ लिया। आनन्द का सागर, ज्ञान का पिण्ड ऐसा आत्मा धर्मी का परिग्रह है, इसके अतिरिक्त दूसरे किसी पदार्थ का परिग्रह धर्मी को नहीं है।

जिसने सम्यग्दर्शन द्वारा ऐसे आनन्दमय आत्मा का अनुभव किया, वह धर्मी हुआ और उसने सर्वसिद्धि सम्पन्न ऐसा चैतन्यदेव अपने में ही देखा। विभाव का पहलू छोड़कर चिदानन्दस्वभाव का पहलू सेवन करने से जो आनन्द अनुभव में आता है, उसे धर्मी ही जानता है; अज्ञानी को उसकी खबर नहीं है। अरे! इस भगवान आत्मा में क्या कमी है कि दूसरे से कुछ लेने जाना पड़े? निज शक्ति से परिपूर्ण भगवान आत्मा है। उसे चिन्तवन करने से—अनुभव करने से परम आनन्द

होता है; इसलिए दूसरे प्रश्न छोड़कर ऐसे आत्मा के अनुभव का ही उद्यम कर; बारम्बार उसमें उपयोग को लगाकर उसका अनुभव कर। राग को मुख्य न कर, चैतन्य भगवान को ही मुख्य कर। उसे अग्र करके—मुख्य करके चिन्तवन करने से सम्यग्दर्शन और सिद्धपद होता है। सादि-अनन्त काल के सिद्धपद का आनन्द प्रदान करने की जिसमें सामर्थ्य है, ऐसा कोई होवे तो वह अपना चैतन्यदेव ही है, दूसरे किसी से वह आनन्द प्राप्त हो, ऐसा नहीं है। ऐसा जाननेवाला धर्मी जीव अपने आत्मा के अतिरिक्त अन्य किसी पदार्थ के परिग्रह को क्यों चाहेगा? चाहेगा ही नहीं। वह तो अपने से पर को सर्वथा भिन्न जानता है और ज्ञानस्वरूप आत्मा को ही परिग्रहता है—अर्थात् सर्व प्रकार से श्रद्धा में-ज्ञान में-आचरण में उसका ही ग्रहण करता है। इसके अतिरिक्त परभाव के अंश को भी ग्रहण नहीं करता, अपना 'स्व' नहीं मानता। अपना 'स्व' तो अपना ज्ञानस्वरूप आत्मा ही है। ऐसे स्व-तत्त्व का अनुभव करनेयोग्य है, उसके अनुभव से ही आत्मा का परम उत्तम अतीन्द्रिय सुख अनुभव में आता है।

जिसकी सेवा से, जिसके चिन्तन से, जिसके अनुभव से केवलज्ञान और सिद्धपद प्राप्त हो, ऐसा अपना आत्मदेव जहाँ प्राप्त हुआ, चैतन्य चिन्तामणि प्राप्त हुआ तो धर्मात्मा अब दूसरे को क्यों सेवन करे? दूसरे को क्यों चिन्तवन करे? वह तो अपने आत्मा को ही ध्येय बनाकर चिन्तवन करता है और उसे ही दिव्यशक्तिवाला देव समझकर सेवन करता है। अरे! ऐसे आत्मा के अनुभव का यह अवसर है; आनन्द की प्राप्ति का यह अवसर है।

आज ही ऐसे आत्मा का अनुभव करो।

सबसे बड़े में बड़ा पाप, सबसे बड़े में बड़ा पुण्य और सबसे पहले में पहला धर्म

प्रश्न : जगत में सबसे बड़े में बड़ा पाप क्या?

उत्तर : मिथ्यात्व ही सबसे बड़े में बड़ा पाप।

प्रश्न : सबसे बड़े में बड़ा पुण्य कौन सा?

उत्तर : तीर्थंकर नामकर्म सबसे बड़े में बड़ा पुण्य है, यह पुण्य सम्यग्दर्शन के बाद की भूमिका में ही शुभराग द्वारा बँधता है। मिथ्यादृष्टि को ऐसा पुण्य नहीं होता।

प्रश्न : सबसे पहले में पहला धर्म कौन सा?

उत्तर : सम्यग्दर्शन ही सबसे पहले में पहला धर्म है। सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान-चारित्र-तप-दया इत्यादि एक भी धर्म सच्चा नहीं होता। ये सब धर्म सम्यग्दर्शन के बाद ही होते हैं। इसलिए सम्यग्दर्शन धर्म का मूल है।

प्रश्न : मिथ्यात्व को सबसे बड़े में बड़ा पाप किसलिए कहा?

उत्तर : मिथ्यात्व अर्थात् उल्टी मान्यता, मिथ्या समझ। जीव पर का कर सकता है और पुण्य से धर्म होता है, ऐसा जिसने माना है, उसे उस विपरीत मान्यता से एक-एक क्षण में अनन्त पाप होता है। वह किस प्रकार से, यह कहते हैं—'पुण्य से धर्म' होता है और जीव 'दूसरे का कर सकता है' ऐसा जिसने माना है, उसने पुण्य से धर्म नहीं होता और जीव पर का कुछ नहीं कर सकता, ऐसा कहनेवाले खोटे हैं, ऐसा भी माना है अर्थात् पुण्य से धर्म नहीं होता और जीव पर का नहीं करता, ऐसा कहनेवाले तीनों काल के अनन्त तीर्थंकर, केवली भगवान, सन्त-मुनि और सम्यग्ज्ञानी जीवों को—सभी को उसने एक क्षण में खोटा माना है। इस प्रकार

मिथ्यात्व के एक समय के विपरीत वीर्य में अनन्त सत्य के नकार का महापाप है और जैसे मैं—जीव पर का और पुण्य-पाप का कर्ता हूँ, उसी प्रकार जगत के सर्व जीव भी सदा काल परवस्तु के और पुण्य-पापरूप विकार के कर्ता हैं—ऐसा भी मिथ्यात्वदृष्टि जीव के अभिप्राय में आया है, इस प्रकार विपरीत मान्यता से उसने जगत के सब जीवों को पर का कर्ता और विकार का मालिक ठहराया है। अर्थात् सभी जीवों के शुद्ध अविकारस्वरूप का अपने विपरीत अभिप्राय द्वारा खून किया, और इस प्रकार अपनी विपरीत मान्यता ही महाहिंसक भाव है तथा वही बड़े में बड़ा पाप है। त्रिकाली सत् का एक समय के लिये भी अनादर, वही सबसे बड़ा पाप है।

और एक जीव दूसरे जीव का कर सकता है अर्थात् कि दूसरे जीव मेरा कार्य करे और मैं दूसरे सब जीवों का कार्य करूँ, ऐसा मिथ्यात्वी जीव मानता है, इसलिए जगत के सभी जीव एक-दूसरे के गुलाम—पराधीन हैं, ऐसा उसने माना; इस प्रकार अपनी विपरीत मान्यता में वही महान हिंसक भाव है और वही महान में महान पाप है।

श्री परमात्मप्रकाश में कहा है कि सम्यक्त्वसहित नरकवास भी भला है, परन्तु मिथ्यात्वसहित स्वर्गवास भी बुरा है, इससे निश्चित होता है कि जिस भाव से नरक मिलता है, उस अशुभभाव की अपेक्षा भी मिथ्यात्व का पाप बहुत ही बड़ा है। ऐसा समझकर जीवों को सबसे पहले सच्ची समझ द्वारा मिथ्यात्व का महापाप मिटाने का उपाय करना चाहिए।

भाई! तू तेरा सुधार

मैं पर का कर सकता हूँ—ऐसी जिसकी मान्यता है, उसने पर को और अपने को एक माना है। मैं दूसरे को शिक्षा दे सकता हूँ—ऐसा जिसने माना है, उसने दो भिन्न पदार्थों को एक माना है। इसे बाँधूं और इसे मुक्त करूँ, ऐसा भाव इसकी मानी हुई अर्थक्रिया नहीं कर सकता; इसलिए वह अभिप्राय त्रिकाल मिथ्या है। जिसमें त्रिकाल नियम लागू पड़े, उसे सिद्धान्त कहा जाता है। अत: त्रिकाल नियमानुसार पर में पर का व्यापार नहीं होने से वह अध्यवसान पर की अर्थक्रिया करने में असमर्थ है, इसलिए पर को बाँधू और मुक्त करूँ, ऐसा अभिप्राय त्रिकाल झूठा है।

अज्ञानभाव से राग-द्वेष होते हैं, इसलिए क्या जीव दूसरे का कुछ कर सकता है? दूसरे को सुखी-दु:खी कर सकता है? दूसरे के जीवन-मरण कर सकता है? दूसरे को बन्ध-मुक्त कर सकता है? नहीं कर सकता। इसीलिए इसकी धारण की हुई मान्यतानुसार नहीं हुआ, इसलिए इसका यह अभिप्राय मिथ्या है।

मैं आकाश के फूल को चुनता हूँ, मैं आकाश के फूल को तोड़ता हूँ, यह अभिप्राय जैसे अत्यन्त मूर्खतापूर्ण है, उसी प्रकार मैं दूसरे को जिलाऊँ-मारूँ, बन्ध-मुक्त करूँ, ऐसा अभिप्राय भी अत्यन्त मूर्खतापूर्ण है। तू सुलटा भाव तुझमें कर सकता है और उल्टा भाव भी तुझमें कर सकता है। परन्तु पर का कुछ भी करने का समर्थपना तुझमें नहीं है। आचार्यदेव ने आकाश के फूल का कैसा सरस न्याय दिया है! जिस प्रकार आकाश के फूल को तोडूँ, यह भाव मिथ्या है; उसी प्रकार मैं पर को जिलाऊँ-मारूँ, बन्ध-मुक्त करूँ, यह भाव भी आकाश के फूल तोड़ने जैसा मिथ्या है। क्योंकि उस भाव से अपनी धारी हुई धारणा प्रमाण होता नहीं है; इसलिए अनर्थ को करता है। आत्मा के अतिरिक्त शरीर, वाणी, मन का मैं करूँ और दूसरे परपदार्थों का भी मैं करूँ, यह अभिप्राय केवल अनर्थरूप है। कितने ही ऐसा मानते हैं कि लड़के-लड़कियों को व्यवस्थित करके और सब समरूप करके पश्चात् धर्म करूँगा।

परन्तु यह अभिप्राय किंचित्मात्र लाभरूप नहीं है, मात्र अनर्थरूप है। तू पर का तो कुछ कर नहीं सकता क्योंकि पर तेरे आधीन नहीं है और तू पर के आधीन नहीं है। तो अब तेरी मिथ्या मान्यता से अनर्थ के कितने विचार करना है? और तुझे तेरा कितना बिगाड़ना है? तू पर का गुलाम नहीं है, वे तेरे गुलाम नहीं हैं। तेरा भाव तुझमें स्वतन्त्र है, उनका भाव उनमें स्वतन्त्र है। पर में कहीं तेरी धारी हुई मान्यतानुसार होता नहीं तो अब विषयादि में सुखबुद्धि रखकर तुझे तेरा कितना बिगाड़ना है? तुझे तेरा बिगाड़ना है या सुधारना है? इसलिए भाई! चिदानन्द आत्मा की प्रतीति करके, उसका ज्ञान करके, उसमें ही स्थिर हो, यह तेरे हाथ की बात है, यही मुक्ति का मार्ग है।

卐 ❀ 卐

आत्मा का जीवन

भगवान आत्मा, अतीन्द्रिय महान पदार्थ है, वह चैतन्यप्राण से शाश्वत जीवित रहनेवाला है। जिसने अपना ऐसा अस्तित्व स्वीकार किया है, उसे जड़ इन्द्रिय आदि प्राणों के साथ एकताबुद्धि नहीं रहती, क्योंकि वे जड़प्राण कहीं आत्मा के जीवन के कारण नहीं हैं। शरीरादि जड़प्राण तो आत्मा से भिन्न हैं और पृथक् हो जाते हैं। यदि आत्मा उनसे जीवित रहता हो तो वे आत्मा से भिन्न क्यों होवें? उनके अस्तित्व से कहीं आत्मा का अस्तित्व नहीं है; आत्मा का अस्तित्व, अपने चैतन्य भावप्राण से ही है। ऐसे चैतन्य जीव को जिसने देखा, उस सम्यग्दृष्टि को मरण का भय क्यों हो? मरण ही मेरा नहीं, फिर मरण का भय कैसा?

इस प्रकार धर्मीजीव मरण के भय से रहित निःशङ्क तथा निर्भय परिणमन करता है। जगत, मरण से भयभीत है परन्तु ज्ञानी को तो आनन्द की लहर है क्योंकि वह प्रथम से ही अपने को शरीर से भिन्न ही अनुभव करता है। — **पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी**

अपूर्व भेदविज्ञान के लिये
अमृत के इंजेक्शन

अहा! आचार्यदेव ने ज्ञानस्वभाव की अपूर्व बात की है। वाणी अचेतन है। उसके आधार से ज्ञान नहीं है; ज्ञानस्वभाव के आधार से ही ज्ञान होता है। अहो! यह भेदविज्ञान की परम सत्य बात है, आत्मकल्याण का मार्ग है परन्तु जिसे अपने कल्याण की दरकार नहीं और जगत के मान—इज्जत की दरकार है, ऐसे तुच्छ बुद्धि जीवों को यह बात नहीं रुचती, अर्थात् कि वास्तव में उन्हें अपना ज्ञानस्वभाव ही नहीं रुचता, परन्तु विकारभाव रुचता है। इसलिए ज्ञानस्वभाव की ऐसी अपूर्व बात कान में पड़ने पर वे जीव पुकार करते हैं कि अरे! 'आत्मा पर का कुछ नहीं करता, ऐसा कहना तो जहर के इंजेक्शन लगाने जैसा है!' अहो, क्या हो!! यह भेदज्ञान की परम अमृत जैसी बात भी जिन्हें जहर जैसी लगी! यह उनकी पर्याय का परिणमन भी स्वतन्त्र है। आत्मा ज्ञानस्वरूप है, विकार का और पर का अकर्ता है—ऐसी भेदज्ञान की बात तो अनादि काल से जो मिथ्यात्वरूपी जहर चढ़ा है, उसे उतारने के लिये परम अमृत के इंजेक्शन जैसी है। यदि एक बार भी आत्मा ऐसे इंजेक्शन ले तो उसके जन्म-मरण का रोग नाश होकर सिद्धदशा हुए बिना रहे नहीं।

आत्मा और विश्व के प्रत्येक पदार्थ स्वतन्त्र हैं, परिपूर्ण हैं, निरालम्बन हैं—ऐसा सम्यक्बोध तो परम अमृत है! ऐसा परम अमृत भी जिस जीव को 'जहर के इंजेक्शन' जैसा लगता है, उस जीव को उसके मिथ्यात्वभाव का जोर पुकार रहा है! यह तो निज कल्याण करने के लिये और मिथ्यात्वरूपी जहर दूर करने के लिये अफर अमृत के इंजेक्शन हैं। अपने परिपूर्ण स्वभाव का विश्वास करे तो सम्यग्दर्शन प्रगट हो अर्थात् कि धर्म की पहले में पहली शुरुआत हो और उसका विश्वास न करके पर का या राग का विश्वास करे तो उस जीव को मिथ्यात्वरूप अधर्म ही होता है।

चैतन्य के लक्ष्यरहित सब मिथ्या

अभी लोगों में जैनधर्म के नाम से जो बात चल रही है, उसमें मूल से ही अन्तर है। मूल आत्मस्वभाव की दृष्टि बिना शास्त्र इत्यादि से हजारों बातें जाने, परन्तु उसमें एक भी बात सच्ची नहीं होती। पूर्व की मानी हुई सभी बातों में शून्य लगाकर यह बात सुने तो अन्तर में जँचे ऐसा है। जिस प्रकार कुम्हार एक साथ मिट्टी लाकर उसमें से हजारों बर्तन बनाता है परन्तु यदि उस मिट्टी में चूने का भाग हो तो जब वह बर्तन को आव में डाले (अग्नि में पकावे), तब एक भी बर्तन सुरक्षित नहीं रहेगा। पूरा आव निकालकर तुरन्त नये सिरे से दूसरी मिट्टी लाकर करना पड़ेगा। इसी प्रकार चैतन्यतत्त्व के लक्ष्य बिना जो कुछ किया, वह सब सत्य से विपरीत ही है; सम्यग्ज्ञान की कसौटी पर चढ़ाने से उसकी एक भी बात सच्ची नहीं निकलती। इसलिए जिसे आत्मा में अपूर्व धर्म करना हो, उसे अपनी मानी हुई पूर्व की समस्त बातें अक्षरशः मिथ्या थी, ऐसा समझकर ज्ञान का पूरा झुकाव बदल डालना पड़ेगा। परन्तु यदि अपनी मानी हुई पूर्व की बात को खड़ी रखे और पूर्व की मानी हुई बातों के साथ इस बात को मिलाने जाए तो अनादि की जो गड़बड़ चली आयी है, वह निकलेगी नहीं और यह नया अपूर्व सत्य उसे समझ में नहीं आयेगा।

(भेदविज्ञानसार)

卐 ❀ 卐

उसे देखकर तू आनन्दित होगा

अहा! आनन्द से विलसित हो रहे इस चैतन्यतत्त्व को देखते ही परद्रव्यों के प्रति तेरा मोह छूट जाएगा; परद्रव्य मेरा है – ऐसी तेरी मोहबुद्धि छूट जाएगी और तुझे चैतन्यतत्त्व, परद्रव्यों से पृथक् विलसित होता हुआ, शोभित होता हुआ दिखाई देगा। भगवान ने जैसा उपयोगस्वरूप आत्मा देखा है, वैसा ही आत्मा तेरे अन्तर में विलस रहा है, वह तुझे देह से भिन्न अनुभव में आयेगा और उसे देखकर तू आनन्दित होगा।

– पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

मानव जीवन का महा कर्तव्य

देह के लिये अनन्त जीवन व्यतीत हुए,
अब आत्मा के लिये यह जीवन अर्पण करो!

समुद्र के पानी से भी जिसकी तृषा नहीं बुझी, ऐसी तृषा एक बूँद पानी से नहीं बुझती, उसी प्रकार इस जीव ने स्वर्गादि भोग अनन्त बार भोगे, तथापि तृप्ति नहीं हुई तो सड़े हुए पिण्ड समान इस मानवदेह के भोग से इसे कदापि तृप्ति होनेवाली नहीं है, इसलिए भोग के लिये जिन्दगी गँवाने की अपेक्षा मनुष्य जीवन में ब्रह्मचर्य पालना और तत्त्व का अभ्यास करना, यही मानव जीवन का उत्कृष्ट कर्तव्य है।

जिस प्रकार बहुत से भूखे गिद्ध पक्षी को रोटी का टुकड़ा मिला परन्तु माँस के टुकड़े की लालच में उसे भी खोया; उसी प्रकार इस संसार में अनन्त जन्म-मरण के प्रवाह में बहते जीव को मानव जीवन का अल्प टुकड़ा मिला है तो इस जीवन को भोग की लालसा में बर्बाद कर देने की अपेक्षा वैराग्य लाकर ब्रह्मचर्य पालना और तत्त्व का अभ्यास करना, यह मानव जीवन का महाकर्तव्य है।

卐 ❀ 卐

.....आश्चर्य है!

भाई! सम्यग्दृष्टि के अन्तःस्तल की थाह लेना बहुत कठिन है। धर्मी जीव को चक्रवर्ती का राज्य हो, युद्ध में खड़े हों, परन्तु आत्मा के आनन्द से राग भिन्न हो गया है, रागादि परिग्रह में भेदबुद्धि हो गयी है, भले ही उसके विषय सामग्री हो, उसका भोग भी करते हों। सम्यग्दृष्टि को पुण्य विशेष होता है, पुण्य के ढेर होते हैं, स्त्री-पुत्रादि में, शरीर-वैभव में पुण्य के ढेर दिखायी देते हैं किन्तु सम्यग्दृष्टि को उनमें एकत्वबुद्धि छूट गयी है; चैतन्य का अतीन्द्रिय आनन्द उसे दृष्टिगोचर होता है। आनन्द का सागर उछल रहा है, आनन्द का ज्वार आता है - ऐसे सम्यग्दृष्टि को भोग-सामग्री में किञ्चित् आसक्ति दिखती है - होती है, तथापि अभिप्राय में उसका स्वीकार नहीं है, सुखबुद्धि नहीं है। भोग भुजङ्ग समान लगते हैं, काले नाग दिखते हैं।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

प्रयोजनभूत रकम

प्रयोजनभूत रकम अर्थात् मुद्दे की रकम न समझे और दूसरा सब समझे तो वह यथार्थ ज्ञान नहीं है। प्रयोजनभूत रकम न स्वीकार करे परन्तु दूसरा सब स्वीकार करे, इस सन्दर्भ में दृष्टान्त:—

एक था 'आपा' किसी एक बनिये की दुकान से 'आपा' ने 500-700 रुपये का माल तथा रोकड़ उठाया था। फिर लम्बे समय में नामा का हिसाब मिलाने के लिये बैठा। बनिया एक के बाद एक रकम बोलने लगा कि 'आपा' यह दो श्रीफल के चार आने, बराबर? तो 'आपा' कहे, हाँ बराबर। इस प्रकार पाव सेर मिर्ची, सवा सेर तेल, ढाई सेर चावल इत्यादि फुटकर रकम स्वीकार की। ठीक जहाँ बड़ी रकम आयी कि रुपये 250 रोकड़ लिये हैं, वहाँ 'आपा' कहता है 'हें... यह तो जानता ही है कौन? मैंने तो लिये ही नहीं।' 'आपा' ने छोटी-छोटी रकम स्वीकार की और मूल रकम को उड़ा दिया। बनिया समझ गया कि गजब हुआ! इसने तो मूल रकम उड़ाई, अब इसे बहियों में से निकालना किस प्रकार? और आगे मिलान करने लगा तब पाव सेर हल्दी इत्यादि छोटी-छोटी पाँच सात रकम स्वीकार की, परन्तु जहाँ बड़ी रकम आयी कि रुपये 51 रोकड़ लिये हैं, तब 'आपा' कहता है कि अरे भाई! मैं तो यह जानता ही नहीं। इस प्रकार मूल रकम को उड़ाकर दूसरी सब स्वीकार की। मूल रकम स्वीकार की होती और छोटी दो-चार रकम उड़ा दी होती तो इतना मुनाफे में समाहित हो जाता, परन्तु यह मूल रकम उड़ाई, उसका मेल कहाँ खाये? यह ऋण मुक्त कैसे होगा?

इसी प्रकार शास्त्रों में दूसरे की भक्ति करने की, दया पालने की ऐसी-ऐसी बात आवे, वहाँ स्वीकार करे कि हाँ महाराज! भक्ति आदि इत्यादि करें तो धर्म होगा। परन्तु अरे! 'धर्म होगा, ऐसा किसने कहा? भक्ति से धर्म की बात किसने की? पर की दया या भक्ति से तीन काल-तीन लोक में धर्म नहीं होता। ऐसी बात आवे वहाँ कहता है कि यह बात हमें नहीं जँचती! तो ऐसा कहनेवाले 'आपा' ने

(आत्मा ने) ऊपर के दृष्टान्त की भाँति प्रयोजनभूत रकम उड़ाई है। भाई! पुण्य की रकम स्वीकार की परन्तु तत्त्व का निर्णय नहीं किया तो तेरा कर्ज किस प्रकार चुकेगा? कर्ज के भार के नीचे चौरासी में भटक मरेगा। पुण्य की बात आयी, उसे स्वीकार किया, दया की बात स्वीकार की परन्तु जहाँ मूल रकम आयी कि सच्चे देव-गुरु-शास्त्र के और आत्मा के यथार्थ भान बिना धर्म नहीं होता वहाँ आपा (आत्मा) कहता है—मुझे यह बात नहीं बैठती, ऐसा कहकर आपा (आत्मा) एकदम छटक जाता है। इस प्रकार छटक जाए तो वह भवभ्रमण की बहियों में से किस प्रकार निकलेगा? इसलिए मोक्षमार्ग में जो प्रयोजनभूत है, उस रकम का संशयरहित तथा विपरीततारहित यथार्थ ज्ञान चाहिए; वह विपरीत हो तो धर्म का लाभ नहीं होगा।

卐 ❁ 卐

धर्मनगरी में प्रविष्ट होने का दरवाजा

आत्मा के अनुभव के लिए पहले ठोस भूमिका चाहिए। वह ठोस भूमिका कौन सी है? मैं ज्ञानस्वरूप हूँ - ऐसा निर्णय ही ठोस भूमिका है। जैसे, बैठे हुए पक्षी को गगन में उड़ने के लिए नीचे ठोस भूमिका चाहिए; उसी तरह चैतन्य के चारित्र में गगन-विहार करने के लिए पहले निर्णयरूप ठोस भूमिका चाहिए। आत्मार्थी होकर अनन्त काल में नहीं किया हुआ - ऐसा अपूर्व प्रकार से, अपूर्व पुरुषार्थ से, आत्मा का अपूर्व निर्णय करना ही प्रथम भूमिका है - यही धर्मनगरी में प्रविष्ट होने का दरवाजा है। इस निर्णय में राग का उत्साह नहीं, अपितु चैतन्य का उत्साह है। वह जीव, राग के भरोसे रुकता नहीं है किन्तु चैतन्यस्वभाव के भरोसे अन्तर में आगे बढ़ता जाता है और राग-द्वेष का अभाव करता जाता है।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

थके हुए का विश्राम

'हे भाई! अब तुझे जन्म-मरण की थकान लगी? यदि थकान लगी हो तो उस जन्म-मरण से छूटने के लिये चैतन्यशरण को पहिचानकर उसके आश्रय से विश्राम कर।'

'जीव ने अनन्त काल में दया, दान, पूजा, व्रत, तप, त्याग इत्यादि सब किया है, परन्तु अपना स्वरूप राग से भिन्न है, उसे कभी समझा नहीं। हे भाई! अब तू तेरी दया कर... दया कर...। सत् समागम से आत्मा को पहिचानकर तेरे आत्मा को चौरासी के भटकाव से अब बचा।'

'जिसे इस चौरासी के अवतार का भय लगा हो, वह आत्मा की शरण को खोजता है। वह अन्तर में ऐसा विचारता है कि अरे रे! क्या भव ही करने का मेरा स्वभाव होगा? या भवरहित शान्ति कहीं होगी? इस अज्ञानरूप से पुण्य-पाप करके भव-भ्रमण के दु:ख भोगना मेरा स्वरूप नहीं होता। इस प्रकार जिसे भवभ्रमण का अन्तर में त्रास लगता हो, वह जीव अन्तर में चैतन्य की शरण को खोजे।'

卐

जीव का कर्तव्य

इस दुर्लभ मनुष्यपने में भी यदि जीव अपने स्वभाव को जानकर उसका आदर नहीं करे तो फिर बाद में कब ऐसा अवसर मिलनेवाला है? अपना जैसा पूरा स्वभाव है, वैसा पहिचानकर उसका ही आदर करना, श्रद्धा करना, यही इस मनुष्यपने में जीव का कर्तव्य है।

धर्मपिता का गहरा आशय समझे तो आत्मधर्म प्रगट हो

जिस प्रकार पिता ने बही में लिखा हो कि बैसाख शुक्ल दूज के दिन सवेरे दस बजे मन्दिर के झण्डे के नीचे एक लाख सोने की मोहर दबायी है। अब उसका

आशय पुत्र समझे नहीं और मन्दिर का झण्डा (शिखर) तोड़ने लगे तो स्वर्णमोहर नहीं मिलेगी और लक्ष्मीवाला नहीं होगा, परन्तु पिता का हृदय जाननेवाला उसके किसी मित्र से उस लेख का रहस्य जाने कि बैसाख शुक्ल दूज के दिन सवेरे दस बजे इस मन्दिर के झण्डे की छाया अपने घर के बरामदे में जिस जगह आती है, वहाँ स्वर्णमोहर दबायी है। इस प्रकार पिता के कथन का गहरा आशय समझकर जिस जगह धन हो, उस जगह खोदे तो धन की प्राप्ति होती है; उसी प्रकार परम धर्मपिता श्री सर्वज्ञदेव प्रणीत शास्त्रों में जो लिखा है, उसकी गम्भीरता, गहराई और रहस्य क्या है ? यह अज्ञानी समझता नहीं और अपनी दृष्टि प्रमाण अर्थ करके बाहर में आत्मधर्म को शोधता है, इसलिए उसे आत्मधन की प्राप्ति नहीं होती। यदि ज्ञानी सद्गुरु से उसका गम्भीर आशय और रहस्य समझे तथा अन्तर में ही आत्मधर्म को शोधे तो आत्मा में से पवित्र धर्मदशा प्रगट हो।

जिस प्रकार चतुर मनुष्य अपनी लक्ष्मी पर के घर में दबाने नहीं जाता, उसी प्रकार आत्मा का धर्म बाहर से—पर के आश्रय से प्राप्त हो, ऐसा भगवान कभी नहीं कहते। जहाँ लक्ष्मी दबायी हो, वहाँ शोधे तो वह मिले; उसी प्रकार आत्मा का धर्म कहीं बाहर में नहीं परन्तु आत्मा में ही है—ऐसा समझकर आत्मस्वभाव में शोधे तो आत्मधर्म प्रगट हो।

卐

शान्ति का स्थान

देखो भाई! शान्ति आत्मा के स्वभाव में है, आत्मा का स्वभाव तीनों काल शान्ति से भरपूर है। उसकी प्रतीति करके उसका अवलम्बन लेने से ही शान्ति का अनुभव होता है; इसके अतिरिक्त बाहर के दूसरे लाखों उपाय से भी जीव को सच्ची शान्ति नहीं मिलती, क्योंकि आत्मा की शान्ति आत्मा से दूर नहीं है, शान्ति का स्थान आत्मा में ही है। ज्ञानी तो ऐसा जानता है, इसलिए निज स्वभाव का बहुमान चूककर

उन्हें पर का बहुमान नहीं आता। जबकि अज्ञानी तो स्वभाव की शान्ति को जानता नहीं, इसलिए बाहर के पदार्थों की महिमा करने में ऐसा एकाकार हो जाता है कि मानो वहाँ ही आत्मा की शान्ति भरी हो और आत्मा में तो मानो कुछ हो ही नहीं! परन्तु अरे भाई! तेरी शान्ति यहाँ है या वहाँ है? जहाँ शान्ति का समुद्र भरा है, ऐसे अपने स्वरूप को भूलकर मात्र पर के बहुमान में रुक जाए तथा उसमें सन्तोष मान ले तो उसे आत्मा की शान्ति का जरा भी लाभ नहीं होता, और संसार परिभ्रमण नहीं मिटता। इसलिए यहाँ तो आत्मा की अपूर्व समझ की बात मुख्य रखकर ही सब बात है, आत्मा की समझ ही शान्ति का मूल है।

卐

कल्याण के लिये कहाँ जाना?

हे भाई! किसी पर के सामने देखने से तो तेरा कल्याण हो, ऐसा नहीं है, क्योंकि तेरा कल्याण पर में नहीं है और राग के सन्मुख या भेद के सन्मुख देखने से भी तेरा कल्याण नहीं होगा। पूरा आत्मा एक समय में जैसा परिपूर्ण है, वैसा अखण्डरूप से प्रतीति में लेकर उसके सन्मुख होना ही कल्याण का मूल है। तेरी शुद्धनयरूपी आँख से अन्तर में भगवान कारणपरमात्मा को देखना और उसके सन्मुख होकर एकाग्रता करना ही कल्याण है।

卐

अज्ञानी की उन्धी नजर

आत्मा निर्मल है, राग-द्वेष क्षणिक है, वह आत्मा का स्वरूप नहीं। आत्मा पर का कुछ नहीं कर सकता। यह बात सुनकर कोई कहता है कि हम तो प्रत्यक्ष नजर से देखते हैं कि आत्मा शरीर का कर्ता है, तथापि इनकार क्यों करते हो? तो

उसे कहते हैं कि भाई! तूने नजर से क्या देखा? आत्मा को तो तू जानता नहीं, तो आत्मा ने क्या किया? उसकी तूझे कैसे खबर पड़ी? शरीर चलता है, इतना तुझे नजर से दिखता है परन्तु शरीर तो उसके कारण से चलता है, तथापि वहाँ मान बैठा कि मैंने हिलाया और फिर कहता है कि नजरों से देखा। उसने 'बछेड़े के अण्डे' जैसे नजरों से देखा है। कोई ऐसा कहे कि मैंने अण्डा फटकर उसमें से बछेड़े निकलते नजरों से देखे हैं, तो उसकी बात प्रत्यक्ष मिथ्या है, क्योंकि बछेड़े के अण्डे होते ही नहीं। वह तो अण्डा फूटा और उसी समय पास की झाड़ी में से निकलकर दौड़ते हुए खरगोश के बच्चे दिखे, वहाँ अक्लरहित ऐसा मान बैठा कि अण्डे में से बछेड़े निकले और उन्हें मैंने नजरों से देखा।

उसी प्रकार शरीर की क्रिया तो शरीर के कारण से होती है और आत्मा उसे जानता है। वहाँ यह शरीर की क्रिया मुझसे हुई, ऐसा मैंने नजरों से देखा, ऐसा अज्ञानी मानता है। परन्तु भाई रे! आत्मा पर का कर सकता ही नहीं तो तूने नजरों से देखा कहाँ से? तेरी देखने की नजर ही उल्टी है। आत्मा पर का कर सकता ही नहीं, यह बात जब तक तेरे ज्ञान में न जँचे, तब तक तत्सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त किया ही कर। सर्वज्ञ की बात में अन्तर पड़े, ऐसा नहीं है; इसलिए जब तक सर्वज्ञ के कहे अनुसार तेरे ज्ञान में न जँचे, तब तक श्रवण-मनन करके ज्ञान किया ही करना। सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक सम्यक्चारित्र होता है और चारित्र होने पर कर्मों का नाश होता है। कर्मों का नाश होने पर सर्व आत्मा को प्रिय ऐसा सुख प्रगट होता है।

इस प्रकार सम्यग्दर्शन ही सुख का मूल पाया है। सत्समागम से तत्त्व का निर्णय करना, यह सम्यग्दर्शन का उपाय है।

दीक्षा के पश्चात् अन्तर की शान्ति के रस के अनुभव में

भगवान को हुए एक वर्ष के उपवास

चारित्रदशा धारण करने से पहले भी भगवान ऋषभदेव को ज्ञान में निर्णय था कि इस भव में ही मैं केवलज्ञान और मुक्ति पानेवाला हूँ परन्तु साथ ही साथ ऐसा भी निर्णय था कि पुरुषार्थ किये बिना केवलज्ञान नहीं होता। जब मैं पुरुषार्थ द्वारा मुनिदशा प्रगट करके आत्मध्यान करूँगा, तब ही केवलज्ञान होगा। भगवान ने जब दीक्षा अंगीकार की थी, तब उनके साथ देखादेखी दूसरे चार हजार राजा भी अपने आप दीक्षित हुए थे। परन्तु वह तो मात्र बाह्य नकल थी; बिना अक्ल की नकल थी। ऋषभदेव भगवान तो आत्मा के आनन्द के अनुभव में लीन रहने से उन्हें छह महीने तक आहार की वृत्ति ही उत्पन्न नहीं हुई। परन्तु उनके साथ दीक्षित हुए राजा क्षुधा इत्यादि सहन नहीं कर सके, इसलिए वे सब भ्रष्ट हो गये। इसलिए कहा जाता है कि 'भूखे मरते भाग गये।' अन्तर की शान्ति के रस बिना समता कहाँ से रहेगी। 'मैंने इतने दिन आहार नहीं किया', इस प्रकार आहार न करने के दिन जो गिनता हो, उसे आत्मा की सच्ची समता कहाँ से रहेगी ? उसका लक्ष्य तो आहार पर पड़ा है। आहार और शरीरादि बाह्य पदार्थों का लक्ष्य छोड़कर अन्तर में परमानन्द के लक्ष्य में एकाग्र होने पर सच्ची समता रहती है। श्री ऋषभदेव भगवान को आत्मा में स्थिर होने से आहार का विकल्प टूट गया और छह महीने तक आहार की वृत्ति उत्पन्न नहीं हुई। पश्चात् आहार की वृत्ति उत्पन्न हुई परन्तु छह महीने तक आहार का योग नहीं बना। वहाँ भगवान तो आत्मा के आनन्द में मस्त थे। बाहर में आहार का संयोग इतने काल होना ही नहीं था, इसलिए नहीं हुआ। बाह्यदृष्टि से देखनेवाले अज्ञानी लोग बारह महीने तक आहार नहीं हुआ, उसे भगवान का तप गिनते हैं और उसकी नकल में वर्षीतप करते हैं परन्तु आहार नहीं आया, वह तो जड़ की क्रिया है, उसमें तप नहीं है। तप तो आत्मा के ध्यान में लीन होने पर सहज इच्छा टूट जाए, इसका नाम है। अन्तर की दशा को भगवान दर्शन-ज्ञान-चारित्र और तप कहते हैं।

अन्तर की चैतन्यशक्ति और उसकी महिमा

जिस प्रकार मोर के अण्डे में मोर होने की सामर्थ्य है, उसी प्रकार चैतन्यशक्ति में केवलज्ञान होने की सामर्थ्य है। जो सर्वज्ञ परमात्मा हुए, उन्हें केवलज्ञान कहाँ से आया? क्या शरीर के मजबूत संहनन में से या राग में से आया, नहीं; उसमें से नहीं आया। परन्तु वर्तमान में आत्मद्रव्य परिपूर्ण शक्ति का पिण्ड है, उसमें अन्तर्मुख होकर उसका अवलम्बन लेते ही केवलज्ञान प्रगट हुआ है; द्रव्य में सामर्थ्यरूप से था, वही पर्याय में व्यक्त हुआ है। साढ़े तीन हाथ का सुन्दर मोर कहाँ से आया? छोटे अण्डे में वैसी शक्ति थी, उसमें से इन्लार्ज होकर अर्थात् विकास होकर मोर हुआ है। उसी प्रकार आत्मा की चैतन्य शक्ति की प्रतीति करने से शक्ति में से विकास होकर केवलज्ञान प्रगट होता है।

卐 ❀ 卐

हे जीव! तू तेरा सम्हाल।

मुमुक्षु : आप जो बात समझाते हो, वह बात तो बराबर सत्य ही है परन्तु उससे समाज को क्या लाभ होगा?

पूज्य गुरुदेवश्री : देखो भाई! पहली बात तो यह है कि स्वयं अपना देखना है। समाज का चाहे जो हो, उसकी चिन्ता छोड़कर स्वयं अपना सम्हालना। मध्य समुद्र में डुबकी खाता हो, तब समाज की या परिवार की चिन्ता करने के लिये नहीं रुकता, परन्तु मैं समुद्र में डूबने से कैसे बचूँ?—इसके लिये ही उपाय करता है। उसी प्रकार संसार समुद्र में भटकते हुए मुश्किल से मनुष्यभव मिला है, तब मेरे आत्मा का हित कैसे हो, मेरा आत्मा संसार भ्रमण से कैसे छूटे, यह देखना है। पर की चिन्ता में रुके तो आत्महित चूक जाता है। यह बात तो अपना हित करने के

लिये है। प्रत्येक जीव स्वतन्त्र है, इसलिए समाज के दूसरे जीवों का हित हो तो ही अपना हित हो सके, ऐसी कहीं पराधीनता नहीं है। इसलिए हे जीव! तू तेरे हित का उपाय कर।

卐 ❀ 卐

कीचड़ में कमल

आत्मज्ञानी धर्मात्मा सन्त गृहवास में रहे होने पर भी अन्तर से उदास... उदास होते हैं। अहो! उनकी अन्तर्दशा की क्या बात! अज्ञानी की अपेक्षा उनका कलेजा अलग होता है। उनके हृदय में अन्तर होता है, उनका अन्तरंग पलटकर अलग होता है। अज्ञानी उन्हें किस गज से नापेगा?

धाय माता लड़के को नहलावे, दूध पिलावे और खिलावे तथा उसकी सगी माता भी नहलावे, दूध पिलावे और खिलावे, वहाँ दोनों की क्रिया एक सरीखी दिखने पर भी भाव में अन्तर होता है। उसी प्रकार ज्ञानी और अज्ञानी की क्रिया बाहर से एक सरीखी दिखाई दे, परन्तु भाव में बहुत अन्तर होता है।

ज्ञानी गृहस्थाश्रम में रहे होने पर भी उनका अन्तर हृदय अलग ही होता है। वे समझते हैं कि मैं परमानन्द मूर्ति हूँ, एक राग का कण भी मेरा नहीं है। कमजोरी के कारण इस अस्थिरता में जुड़ता हूँ, वह मेरे आनन्द की लूट है, मुझे कलंक है। इस क्षण वीतराग हुआ जाता हो तो दूसरा कुछ नहीं चाहिए—ऐसा ज्ञानी का हृदय होता है।

यह तो ज्ञानी के हृदय की थोड़ी व्याख्या हुई, बाकी ज्ञानी का हृदय कैसा निर्लेप है, यह साधारण जीव कैसे जान सकते हैं? वह तो जो जाने, वह जाने। साधक का हृदय बाहर से जाने जा सके, ऐसा नहीं है।

卐 ❀ 卐

परमेश्वर की प्रसिद्धि

सर्वज्ञ परमेश्वर की वाणी में वस्तुस्वरूप की परिपूर्णता की ऐसी प्रसिद्धि की है कि प्रत्येक आत्मा अपने स्वभाव से पूरा परमेश्वर है, उसे किसी दूसरे की अपेक्षा नहीं है। तथा प्रत्येक जड़ परमाणु भी उसके स्वभाव से परिपूर्ण—जड़ेश्वर भगवान है। इस प्रकार चेतन और जड़ प्रत्येक पदार्थ स्वतन्त्र तथा स्वयं से परिपूर्ण है, कोई तत्त्व किसी दूसरे तत्त्व का आश्रय नहीं मानता। ऐसा समझकर अपने परिपूर्ण आत्मा की श्रद्धा करना और उसका आश्रय करना तथा पर का आश्रय छोड़ना—यह परमेश्वर होने का पन्थ है।

卐 ❀ 卐

शुद्ध आत्मा की धगशवाले जिज्ञासु शिष्य को

जिसे शुद्ध आत्मा समझने की धगश जगी हो, ऐसे जिज्ञासु शिष्य को प्रश्न उठता है कि ऐसा शुद्ध आत्मा कौन है कि जिसका स्वरूप जानना चाहिए? अनन्त-अनन्त काल से आत्मा के शुद्ध स्वभाव की बात सुनी नहीं, रुचि नहीं, जानी नहीं और अनुभव नहीं किया। इसलिए शिष्य प्रश्न करता है कि आत्मा का शुद्धस्वभाव कैसा है? ऐसे जिज्ञासु शिष्य को आचार्यदेव शुद्ध आत्मा का स्वरूप समझाते हैं।

जिस प्रकार किसी को रण में पानी की प्यास लगी है, पानी पीने की झंखना हुई है, वह पानी की निशानी देखे, तब उसे कैसी छटपटाहट होती है! और फिर पानी पीकर कितना तृप्त होता है! उसी प्रकार जिसे आत्मस्वरूप जानने की झंखना हुई है, वह शुद्ध आत्मा की बात सुनने पर कितना आनन्दित होता है! और पश्चात् सम्यक् पुरुषार्थ से आत्मस्वरूप पाकर कितना तृप्त होता है! शुद्ध आत्मस्वरूप जानने की जिसे तीव्र जिज्ञासा हुई है, उसे समयसार सुनाया जाता है।

卐 ❀ 卐

भावना

'अहो! एक चिदानन्दी भगवान के अतिरिक्त दूसरे किसी भाव को मन-मन्दिर नहीं लाऊँ, एक चैतन्यदेव को ही ध्येयरूप बनाकर उसके ध्यान से—उसकी लीनता से आनन्दकन्द स्वभाव में रमणता करके मैं कब पूर्ण होऊँ! अकेले चैतन्यस्वभाव का ही आश्रय करके केवलज्ञान प्रगट करना, वह तीर्थंकरों के कुल की टेक है। अनन्त तीर्थंकर जिस पन्थ में विचरे, उसी पन्थ के चलनेवाले हम। मैं चिदानन्द नित्य हूँ और समस्त संसार अनित्य है; मेरे आनन्दकन्द चिदानन्दस्वभाव की मुझे शरण है, जगत में दूसरा कोई मुझे शरण नहीं। ऐसी भावना भी दुर्लभ है। अहो! जब ऐसी भावना भाकर तीर्थंकर भगवान दीक्षा अंगीकार करते होंगे, वह काल और प्रसंग कैसा होगा! जीव को आत्मा के सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की भावना भी अनन्त काल में दुर्लभ है।'

卐 ❀ 卐

आत्मा की समझ

देखो भाई! यह आत्मस्वभाव की बात सूक्ष्म पड़े तो अधिक ध्यान रखकर समझना चाहिए। आत्मा सूक्ष्म है तो उसकी बात भी सूक्ष्म है। जीव ने एक स्व की समझ बिना दूसरा सब अनन्त बार किया है। आत्मा की परम सत्य बात किसी जगह ही सुनने को मिलती है। कोई नोबेल पड़ता है, कोई धर्म सुनने जाता है, वहाँ वार्ता सुनाते हैं बाह्य की प्रवृत्ति बताते हैं, इस प्रकार बाह्यक्रिया से सन्तोष मनवाकर धर्म का स्वरूप भाजी-मूली जैसा सस्ता बना दिया है। जो आत्मस्वभाव की बात अनन्त काल में नहीं समझ में आयी, वह बात समझने के लिये तुलनात्मक बुद्धि होनी चाहिए। लौकिक बात और लोकोत्तर धर्म की बात अत्यन्त पृथक् है। शीघ्र न समझ में आये, इसलिए इनकार / निषेध नहीं करना। जो अपना स्वरूप है, वह न समझ में आये, ऐसा कठिन होता ही नहीं। रुचि से अभ्यास करे तो प्रत्येक जीव अपना आत्मस्वरूप समझ सकता है, मात्र सत् समझने का प्रेम चाहिए। श्री आचार्यदेव ने

समयसार की शुरुआत में कहा है कि मैं मेरे और तुम्हारे आत्मा में सिद्ध भगवान को स्थापित कर यह तत्त्व बतलाता हूँ।

卐 ❁ 卐

सिद्ध समान सदा पद मेरो

श्री आचार्यदेव कहते हैं कि 'मैं प्रभु हूँ, पूर्ण हूँ' ऐसा निर्णय करके तुम भी अपने को प्रभुरूप मानना। सर्वज्ञ भगवान और अनन्त ज्ञानी आचार्यों ने सभी आत्माओं को पूर्णरूप से देखा है। तू भी पूर्ण है, धर्मात्मा जैसा है। ज्ञानी तेरे स्वभाव को देखकर कहते हैं कि तू प्रभु है, क्योंकि भूल और अशुद्धता तेरा स्वरूप नहीं है। अवस्था में क्षणिक भूल है, उसे हम गौण करते हैं। हम भूल को नहीं देखते, क्योंकि हम भूलरहित आत्मस्वभाव को मुख्यरूप से देखनेवाले हैं और ऐसे पूर्ण स्वभाव का स्वीकार करके, उसमें स्थिरता द्वारा अनन्त जीव परमात्मदशारूप हुए हैं। इसलिए तुझसे हो सके, वही कहा जाता है। 'मैं सिद्ध समान प्रभु हूँ' ऐसा विश्वास तुझे तेरे से नहीं आवे, तब तक सर्वज्ञ परमात्मा ने कही हुई बातें तेरे अन्तर में नहीं बैठेंगी।

卐 ❁ 卐

सिद्ध का सन्देश

जिसे सच्ची श्रद्धा प्रगट हो, उसका पूरा अन्तरंग बदल जाता है, हृदय पलट जाता है, अन्तर में उथल-पुथल हो जाती है। वह अन्ध में से सूझता हो जाता है, अन्तर की ज्योति जगती है और उसकी दशा की दिशा पूरी बदल जाती है। जिसे अन्तरंग में परिवर्तन होता है, उसे किसी से पूछने जाना नहीं पड़ता। उसका अन्तर बेधड़क पडकार करता साक्षी देता है कि हम अब प्रभु के मार्ग में सम्मिलित हुए हैं। सिद्ध का सन्देश आ चुका है, अब अल्प काल में सिद्ध होकर ही रहेगा। इसमें दूसरा कुछ होगा नहीं, अन्तर पड़ेगा नहीं।

卐 ❁ 卐

मैं एक ज्ञायकभाव हूँ।

धर्मी कर्म के उदयभावों से भिन्न ऐसे एक ज्ञायकभावरूप ही अपने को अनुभव करता है। राग के अंश को भी अपने ज्ञायकभाव में नहीं मिलाता, उसे तो अपने से भिन्न जानता है, इसलिए वह राग के प्रति अत्यन्त विरक्त है।

卐

जिसे क्षण-क्षण अनन्त कर्मों की निर्जरा हुआ करती है, ऐसा धर्मी सम्यग्दृष्टि जीव, समस्त पर से भिन्न, कर्म के उदय विकारों से अत्यन्त भिन्न, संयोगों से पृथक् तथा जो कुछ रागादि भाव होते हैं, उनसे भी पृथक् ऐसे एक ज्ञायकभावरूप ही अपने को अनुभव करता है। कर्म का विपाक मेरा स्वभाव है ही नहीं। इस प्रकार उससे भिन्नरूप अपने को अनुभव करता है। संयोगों की भीड़ में उसका ज्ञान दब नहीं जाता, उनसे पृथक् का पृथक् ही रहता है। राग-द्वेष के भाव हुए तो राग और ज्ञान में ज्ञात हुए, तब भी धर्मी का ज्ञान उन उदयभावों से लिप्त नहीं हो जाता। ऐसा भिन्न ज्ञान ही धर्मी को मापने का थर्मामीटर है। ऐसे ज्ञान द्वारा ही धर्मी पहिचाना जाता है।

बापू! ऐसे ज्ञान के संस्कार आत्मा में डालना चाहिए। इस ज्ञान के ऐसे दृढ़ संस्कार आत्मा में डालना कि सम्यग्दर्शन प्राप्त करके ही रहे; और पश्चात् भी इसके ही संस्कार के बल से केवलज्ञान लेकर ही रहे। ऐसे ज्ञान बिना इस संसार में कहीं कोई शरण नहीं है।

जड़कर्म का उदय और उसकी ओर के झुकाववाले रागादि भाव, ये दोनों आस्रवतत्त्व हैं, ज्ञानतत्त्व से वे भिन्न हैं। ऐसे भेदज्ञानपूर्वक ज्ञानी उन उदयभावों को छोड़ता है और 'मैं तो एक ज्ञायकभाव हूँ'—ऐसा अनुभव करता है। ऐसे अनुभव के कारण उसे संवर होता है और कर्म का बन्धन नहीं होता परन्तु निर्जरा ही होती है। जिस प्रकार कीचड़ के संयोग में या अग्नि के संयोग में स्वर्ण तो स्वर्णरूप ही रहता है; उसी प्रकार कर्म के अनेकविध संयोग में या रागादि के संयोग में ज्ञानी का ज्ञान तो ज्ञानरूप ही रहता है।

ऐसा ज्ञानस्वरूप आत्मा विकल्प से वेदन में नहीं आता परन्तु अन्तर के ज्ञान द्वारा ही स्वसंवेदन में आता है। राजपरिवार के बीच रहे हुए भरतचक्रवर्ती रागादि से भिन्न ज्ञानस्वरूप ही अपने को अनुभव करते थे। ऐसे आत्मा का अनुभव करने से ही जन्म-मरण का अन्त आता है। नरक के संयोग में रहे हुए सम्यग्दृष्टि जीव उन संयोग से भिन्न ज्ञानस्वरूप ही अपने को अनुभव करते हैं; इसी प्रकार स्वर्ग के वैभव के बीच रहे हुए सम्यग्दृष्टि जीव उन संयोग से भिन्न ज्ञानस्वरूप ही अपने को अनुभव करते हैं। इच्छायें हों, वे भी ज्ञान से भिन्न हैं। इस प्रकार विविध प्रकार के जो उदयविपाक हैं, वे कोई मेरा स्वभाव नहीं हैं, मैं तो उनसे अलिप्त ऐसा एक ज्ञायकभाव ही हूँ। ऐसे ज्ञायकभाव में शुभाशुभ का वेदन नहीं। पुण्य का उदय भी मेरे आत्मा का भाव नहीं; मेरे आत्मा का भाव तो एक ज्ञायकभाव है। ऐसे भावरूप ही धर्मी अपने को अनुभव करता है। ऐसा अनुभव और ऐसा भेदज्ञान धर्मी जीव को निर्जरा का कारण है। भोगोपभोग के काल के समय भी ऐसा भेदज्ञान उसे वर्तता होने से निर्जरा हुआ ही करती है। धर्मी को किंचित् रागादिभाव और कर्मबन्धन है, परन्तु उन दोनों अर्थात् राग और कर्म से भिन्नरूप मात्र ज्ञायकभावरूप धर्मी अपने को अनुभव करता है। अपने को रागरूप या कर्मरूप वह अनुभव नहीं करता, इसलिए ज्ञानरूप ही परिणमते हुए धर्मी को वास्तव में बन्धन नहीं है।

आहा! धर्मी ने एक परमज्ञायकभावरूप आत्मद्रव्य को सबसे भिन्न करके अनुभव में लिया है और राग के एक कण का भी जिसमें अस्तित्व नहीं है, ऐसे ज्ञानस्वरूप को अनुभव में लिया होने से उसे रागादि के प्रति सम्पूर्ण विरक्ति है। यही धर्मी का वास्तविक वैराग्य है। राग को अपनेरूप अनुभव करे, उसे वैराग्य कैसा?

अहो! मैं तो समस्त कर्मों से पृथक् ऐसा ज्ञायकस्वभाव हूँ; मुझमें राग का सूक्ष्म विकल्प भी नहीं है। ऐसे अपने सामर्थ्य को भूलकर जो राग करने में अपना बल मानता है, राग से लाभ मानता है और उसमें ही जिसकी तन्मयता है, उसे मिथ्याश्रद्धा-मिथ्याज्ञान-मिथ्या आशरणरूप त्रिदोष का बड़ा रोग हुआ है; अपना स्वतत्त्व क्या है, इसकी उसे खबर नहीं। धर्मी तो स्वसन्मुख होकर, स्वभाव का

ग्रहण और परभाव के त्याग द्वारा अपने शुद्ध स्वतत्त्व को जानता है अर्थात् अनुभव करता है। जो रागादि परभाव को अपने स्वभाव से भिन्न नहीं जानता, उसे परभाव का त्याग कैसा और परभाव के त्याग बिना स्वभाव का ग्रहण कैसा? और स्वभाव के ग्रहण बिना धर्म कैसा? मैं राग का कर्ता, शुभराग से मुझे लाभ होता है—ऐसी जिसकी बुद्धि है, उसे परभाव का ग्रहण है और परभाव का ग्रहण, वही बन्ध का कारण है। राग के एक अंश को भी जो ज्ञान के साथ मिलाता है, उसे ज्ञान के स्वरूप की खबर ही नहीं है। ज्ञान-आनन्दमय स्वघर को भूलकर वह रागादि परघर में भ्रम रहा है, उसे स्वतत्त्व की खबर नहीं है। ऐसा अज्ञानी शुभराग की चाहे जितनी क्रियाएँ करे, तो भी उसे किंचित् धर्म नहीं होता, उसे स्वभाव का विस्तार नहीं परन्तु परभाव का ही फैलाव है।

धर्मी तो राग से भिन्न ऐसे ज्ञानमय निज स्वभाव को ही स्वतत्त्वरूप अनुभव करता हुआ उसका विस्तार करता है, उसे पर्याय में प्रसिद्ध करता है। उसमें शुद्धता की वृद्धि है, अशुद्धता की हानि है और कर्मों की निर्जरा है। इसका नाम मोक्षमार्ग है। जहाँ शुद्धता की वृद्धि नहीं, जहाँ अशुद्धता की हानि नहीं और जहाँ कर्मों की निर्जरा नहीं, वहाँ मोक्षमार्ग कैसा? मैं ज्ञायकभाव हूँ—ऐसे निजस्वरूप को जाने बिना शुद्धता होती नहीं, अशुद्धता मिटती नहीं और कर्मों से छूटता नहीं अर्थात् उसे मोक्षमार्ग होता नहीं।

राग को छोड़ना अर्थात् कि राग को अपने से भिन्न जानना; और उसे अपने से भिन्न जाने, उसको अपने में ग्रहण कैसे करे? अपना आत्मा तो ज्ञान और आनन्दस्वरूप है, वह रागरहित ही जीनेवाला है, टिकनेवाला है। अपने स्वभाव का अनुभव निराकुल आनन्दमय है और राग का अनुभव तो आकुलतारूप दु:खमय है। ऐसे भेदज्ञान द्वारा परभावों को छोड़कर, ज्ञानानन्दमय निजभाव को धर्मी जीव श्रद्धा-ज्ञान में लेता है और उसे ही अपनेरूप सदा अनुभव करता है। भटकते राम को आराम का स्थान हो ऐसा आत्मा है, इसके अतिरिक्त दूसरा कोई आराम का या सुख का स्थान नहीं है। समकिती जीव को राग से भिन्न ज्ञायक का अनुभव हुआ है

अर्थात् कि राग से भिन्न परिणमन हुआ है; ऐसे शुद्ध परिणमन के कारण उसे निर्जरा होती है। इस प्रकार समकिती जीव की निर्जरा बतायी है, वहाँ कोई अज्ञानी जीव राग में रत होने पर भी और राग से भिन्न ज्ञान का अनुभव न होने पर भी ऐसा मानता है कि मैं भी सम्यग्दृष्टि हूँ और मुझे भी बन्धन नहीं होता, तो वह जीव स्वच्छन्दी है। कदाचित् वह व्रत, तप इत्यादि करता हो तो भी मिथ्यात्व के कारण पापी ही है। आत्मा और अनात्मा की भिन्नता का उसे भान नहीं है। ज्ञान और राग की भिन्नता की उसे खबर नहीं है और व्रतादि के राग में एकाकार वर्तता हुआ अपने को सम्यग्दृष्टि मानता है। परन्तु मिथ्यात्व का पाप ही उसे छूटा नहीं है। मिथ्यात्व सेवन करे और ऐसा माने कि मुझे बन्धन नहीं होता तो इससे कहीं बन्धन रुक नहीं जाता। जब आत्मा का स्वभाव जानकर और रागादि परभावों से भेदज्ञान करके भेदज्ञानरूप परिणमेगा, तब ही बन्धन रुकेगा और तब ही सच्ची निर्जरा होगी।

अहो! यह भेदज्ञान की सरस बात है। सेठाई अर्थात् श्रेष्ठता तो इसी भेदज्ञान से है। इसके अतिरिक्त पैसे इत्यादि से अपनी श्रेष्ठता मानने में तो आत्मा की हीनता है, अज्ञान है। जगत में श्रेष्ठ हो तो भेदज्ञान और शुद्ध आत्मा का अनुभव करना ही है; इससे उत्कृष्ट दूसरा कुछ नहीं है।

ज्ञानी ने अपने ज्ञानस्वभाव को समस्त शुभाशुभराग से भिन्न जाना है, इसलिए उस राग को मिटाने का उसका प्रयत्न है, परन्तु उस राग को बढ़ाने का उसका प्रयत्न नहीं है। जिसने राग से भिन्नता का भान किया है, वही राग को टाल सकता है। जो राग को अपने स्वभाव में खतौनी करता है, वह उसे कैसे टाल सकेगा? धर्मी ने राग से भिन्नता जानकर ज्ञानस्वभाव के वीतरागी आनन्द का अनुभव किया है, इसलिए उस आनन्द के साथ तुलना करने पर उसे शुभराग भी रोग जैसा लगता है और शुद्धता के परिणाम द्वारा उस राग को मिटाना चाहता है। अज्ञानी को तो राग से भिन्नता का भान नहीं और वीतरागी आनन्द की खबर नहीं तो वह राग को किसके साथ तुलना करेगा। वह तो अशुभराग छोड़कर शुभराग को अच्छा मानेगा, परन्तु शुभराग में भी आनन्द नहीं है, उसमें भी आकुलता है—इसकी उसे खबर नहीं है।

तुझे राग मिटाना हो तो पहले राग से भिन्नता जान! रागरहित ज्ञान का जीवन कैसा है—उसे पहिचान। राग के साथ एकत्वबुद्धि रहे और उससे लाभ माने, उसे राग कभी नहीं टूट सकता। राग को छोड़ने का उपाय एक ही है कि स्वभावसन्मुख होकर शुद्धज्ञानरूप परिणमना।

कोई कहे कि अशुभ, वह धूप है और शुभ, वह छाया है, तो कहते हैं कि भाई! ऐसा नहीं है; शुभ, वह मन्द धूप है और अशुभ, वह तीव्र धूप है। दोनों में धूप है, आकुलता है; शान्ति की छाया तो रागरहित ज्ञान में है। शुद्धज्ञान परिणमन ही सच्ची शान्ति है; राग में तो अशान्ति है। शुद्धज्ञान में ही सच्ची छाया और सच्चा विश्राम है। अरे! शुभराग की आकुलता में जो शान्ति मानता है, वह अन्दर में उतरकर रागरहित शान्ति को कहाँ से अनुभव करेगा? जिसने अन्दर में अतीन्द्रिय शान्ति का अनुभव लिया है, उस धर्मात्मा को एक विकल्प भी दु:खरूप भासित होता है, उसे राग का प्रेम नहीं होता।

सम्यग्दृष्टि जीव गृहस्थदशा में हो और व्रतादि न हो परन्तु राग में रत नहीं है, राग से विरक्त है क्योंकि उसे राग से भिन्नता और ज्ञान में एकता वर्तती है और मिथ्यादृष्टि जीव गृहस्थ हो या व्रत-महाव्रत पालता हो, तो भी राग में ही रत है। उसे राग से विरक्ति नहीं है। राग में ही उपयोग की एकता करता हुआ वह बँधता है। देखो! ज्ञानी कैसे छूटता है और अज्ञानी कैसे बँधता है, उसका यह रहस्य है।

अरे! चौरासी के अवतार में जीव को कहीं सुख नहीं है। धर्मी, पुत्र—कि जिसने आत्मा को जाना है और संसार से विरक्त है वह—अपनी माता से कहता है कि माता! इस संसार में मुझे कहीं चैन नहीं है। यह संसार क्लेश और दु:ख से भरपूर है, अब मैं इससे छूटना चाहता हूँ, इसलिए हे माता! दीक्षा के लिये मुझे आज्ञा दो। हम इस संसार में अब दूसरी माता नहीं बनायेंगे। इस प्रकार वैराग्यवन्त धर्मात्मा, आत्मा को साधने के लिये चल निकलता है। जिसे अन्दर में राग से भिन्न आत्मा का अनुभव है, उसकी यह बात है। अन्दर में मोक्ष का मार्ग जिसने देखा है, वह उसे साधता है।

ज्ञानी और अज्ञानी जीव की परिणति में बड़ा अन्तर है और उसे सम्यग्दृष्टि ही जानता है। अध्यात्म का उपदेश वीतरागी दृष्टि कराकर वीतरागभाव का ही पोषण कराता है। वह निश्चयतत्त्व का यथार्थ स्वरूप बतलाकर शुभराग को भी छुड़ाता है। अज्ञानी उस शुभराग को मुक्ति का साधन मानता है, अर्थात् उससे पार शुद्ध मोक्षमार्ग को वह नहीं साध सकता अथवा निश्चय के भान बिना शुभ को छोड़कर अशुभ में स्वच्छन्दता से वर्तता है, उसे अध्यात्म उपदेश की समझ ही नहीं है।

आत्महित के लिये सन्तों की शिक्षा

जगत में दूसरे जीव धर्म प्राप्त करें या न प्राप्त करें, उसमें अपने को क्यों? स्वयं को तो अपने आत्मा का देखना है। दूसरे जीव मुक्ति प्राप्त करें, इससे कहीं इस जीव का हित नहीं हो जाता और दूसरे जीव संसार में भटकें, इससे कहीं इस जीव का हित रुकता नहीं है। स्वयं जब अपने आत्मा को समझो, तब अपना हित होता है। इस प्रकार अपने आत्मा के लिये यह बात है। सत् तत्व तो तीनों काल दुर्लभ है और उसे समझनेवाले जीव भी विरले ही होते हैं, इसलिए स्वयं समझकर अपने आत्मा का हित साध लेना चाहिए।

ज्यों निधि पाकर निज वतन में गुप्त रह जन भोगते
त्यों ज्ञानीजन भी ज्ञाननिधि परसंघ सजकर भोगते॥

(नियमसार गाथा 157)

卐

अन्तर की चैतन्यशक्ति और उसकी महिमा

जिस प्रकार मोर के अण्डे में मोर होने की ताकत है, उसी प्रकार चैतन्यशक्ति में केवलज्ञान होने की सामर्थ्य है। सर्वज्ञ परमात्मा हुए, उन्हें केवलज्ञान कहाँ से आया? क्या शरीर के मजबूत संहनन में से या राग में से आया? नहीं, उनमें से नहीं आया परन्तु वर्तमान में आत्मद्रव्य परिपूर्ण शक्ति का पिण्ड है, उसमें अन्तर्मुख होकर उसके अवलम्बन से ही केवलज्ञान प्रगट हुआ है। द्रव्य में सामर्थ्यरूप से था,

वही पर्याय में व्यक्त हुआ है। साढ़े तीन हाथ का सुन्दर मोर कहाँ से आया ?—नहीं, नहीं, अण्डे में उसकी शक्ति थी, उसमें से इनलार्ज होकर अर्थात् विकास होकर मोर हुआ है, अर्थात् आत्मा की चैतन्यशक्ति की प्रतीति करने से उसका विकास होकर शक्ति में से केवलज्ञान प्रगट होता है।

卐

वास्तविक जिज्ञासु

जिसे संसार परिभ्रमण की थकान लगी है और अन्य सबसे उदासीन होकर एकमात्र शुद्ध आत्मा को ही पहिचानने की जिसे जिज्ञासा है, ऐसा शिष्य श्रीगुरु के चरण में जाकर कहता है कि हे प्रभु! अनादि काल से मैं मेरे आत्मा को अशुद्ध और संयोगवाला ही मानकर अभी तक संसार में ही भटका, परन्तु शुद्धनय से मैंने मेरे आत्मा को कभी पहिचाना नहीं। अब मुझे शुद्धनय से आत्मा का स्वरूप बताओ कि जिसे जानने से सम्यग्दर्शन होकर मेरी मुक्ति हो और इस भवभ्रमण का अन्त आवे।

जिज्ञासु शिष्य को अपना शुद्ध आत्मा जानने की ही प्रधानता है, दूसरे अप्रयोजनभूत के सन्दर्भ में जानने की प्रधानता नहीं है। ज्ञान के उघाड़ से दूसरे अप्रयोजनभूत के सम्बन्ध में ज्ञान हो तो उसका अभिमान नहीं और न ज्ञात हो तो उसका खेद नहीं, शुद्ध आत्मा को ही जानने की धगश और उत्साह है।

卐

अहो! अचिन्त्य आत्मवैभव

प्रत्येक आत्मा अनन्त शक्तिसम्पन्न चैतन्य परमेश्वर है। परन्तु अपने अद्‌भुत आत्मवैभव को भूलकर मूर्ख जीव बाह्य वैभव से अपनी महत्ता समझते हैं। लक्ष्मी-मकान, स्त्री इत्यादि परद्रव्य या पुण्य, वह आत्मा की वास्तविक सम्पत्ति नहीं है। अपनी अनन्त चैतन्यशक्तिरूप सम्पत्ति, जो कि आत्मा से कभी भी पृथक् नहीं पड़ती, वही आत्मा की वास्तविक सम्पत्ति है, आत्मा का वास्तविक वैभव है और उससे ही आत्मा की महिमा है। ऐसे स्वभाव के बहुमान में धर्मी को पर्याय में

ज्ञानादि प्रगट हों, उसका अभिमान नहीं होता। परन्तु जिसे चैतन्य की अपार महिमा का भान नहीं और जो तुच्छ बुद्धि है, उसे ही अल्प पर्याय का और पर का अभिमान होता है। बाहर में लक्ष्मी इत्यादि का संयोग आवे, वहाँ उसे अपनी सम्पत्ति मानकर अज्ञानी अभिमान करता है परन्तु वह संयोग तो अल्पकाल रहकर चला जानेवाला है, वह आत्मा के साथ शाश्वत् रहनेवाला नहीं है, इसलिए वह आत्मा की सम्पत्ति नहीं है। अनन्त गुण का चैतन्यनिधान अन्दर त्रिकाल भरा है, उस शाश्वत् सम्पदा को अज्ञानी पहिचानता नहीं। यदि उस अचिन्त्य आत्मनिधान को पहिचाने तो पर का अभिमान छूट जाए और अनादिकाल की दीनता का अन्त आकर सिद्धपद के अपूर्व निधान प्रगट हों।

देखो... रे... देखो! चैतन्यनिधान को देखो

सुपात्र जीवों को सम्बोधनकर आचार्यदेव कहते हैं कि अरे जीव! तुझे चैतन्य के ऐसे निधान बताता हूँ कि दूसरी किसी चीज़ की तुझे आवश्यकता न पड़े। तेरे चैतन्य की महिमा देखते ही तुझे पर की महिमा छूट जायेगी। अनन्त धर्म स्वभावी तेरा आत्मा ही चैतन्यमूर्ति भगवान है, तुझे दूसरे किसी की आवश्यकता नहीं है। तू स्वयं ही दुनिया के निधान को देखनेवाला है। सदा ही अल्पज्ञ—सेवक ही रहा करे, ऐसा तेरे आत्मा का स्वभाव नहीं है। तेरा आत्मा तो सर्वज्ञ के समान है, जितना सर्वज्ञ ने किया, उतना करने की ताकत तुझमें भी भरी है।

अहो! आचार्यदेव चैतन्य के ऐसे निधान बताते हैं कि दूसरी किसी चीज़ की आवश्यकता ही न पड़े। जो जीव अनन्त शक्तिवाले निज आत्मा की प्रतीति करता है, उसे निमित्त का या विकल्प का आश्रय करने की श्रद्धा नहीं रहती है, पर्यायबुद्धि छूट जाती है। अनन्त चैतन्यशक्ति का पिण्ड आत्मा जिसकी प्रतीति में आता है, वह सम्यग्दृष्टि होकर मोक्षमार्ग में विचरने लगता है। अन्तर्दृष्टि से वह स्वयं अपने को तीन लोक का नाथ परमेश्वररूप से देखता है।

श्री आचार्य भगवान कहते हैं कि हे भाई! उघाड़... रे... उघाड़! तू तेरे

ज्ञानचक्षु को उघाड़। तेरी आँख उघाड़कर चैतन्यनिधान को देख। सर्वज्ञ भगवान मन-वाणी-देह से पार ऐसी गहरी-गहरी खान में ले जाकर चैतन्य के अपूर्व निधान बतलाते हैं, तो उसका विश्वास करके हे जीव! तेरे ज्ञानचक्षु में रुचि का अंजन आँज, तो तुझे तेरे चैतन्यनिधान दिखाई देंगे।

अज्ञान से अन्ध हुए जीव अपने पास ही पड़े हुए निज निधान को देखते नहीं। श्रीगुरु उसे सम्यक्श्रद्धारूपी अंजन आँजकर उसके निधान को बतलाते हैं कि देख! तेरे निधान तेरे अन्तर में ही पड़े हैं; बाह्यदृष्टि छोड़कर अन्तर में दृष्टि कर तो सिद्ध भगवान जैसे निधान तुझमें भरे हैं, जो तुझे दिखाई देंगे। एक चैतन्य की प्रतीति करने से अनन्त सिद्ध भगवन्त, केवली और सन्तों की समस्त ऋद्धि तुझे तुझमें ही दिखाई देगी, यह ऋद्धि तुझे कहीं अन्यत्र नहीं खोजनी पड़ेगी। सन्त-महन्त जो ऋद्धि प्राप्त हुए हैं, वह अपने चैतन्य में से ही प्राप्त हुए हैं, कहीं बाहर में से प्राप्त नहीं हुए। तेरे चैतन्य में ही समस्त ऋद्धि भरी है, आँख उघाड़कर अन्तर में देख तो यह दिखाई देगी; परन्तु यदि पर में तेरी ऋद्धि लेने जायेगा तो अन्ध होकर संसाररूपी घोर जंगल में भटकेगा। यहाँ आचार्य प्रभु करुणा करके भवभ्रमण से छुटकारे का मार्ग बतलाते हैं कि अन्तर्मुख होकर निज शक्ति की सम्हाल कर तो भवभ्रमण से छुटकारा होगा।

भवभ्रमण से थके हुए जीवों को श्रीगुरु कहते हैं कि—देखो... रे... देखो! अन्तर में चैतन्यनिधान को देखो।

卐

भगवान की भावना

मैं असंयोगी चैतन्यमूर्ति हूँ। एक परमाणु से लेकर छह खण्ड की ऋद्धि यह समस्त अचैतन्य का स्वभाव है, उसमें कहीं मेरा सुख नहीं है और मेरे चैतन्यस्वभाव में यह कोई तीन काल-तीन लोक में नहीं है। ऐसे भिन्नपने का भान तो भगवान को पहले से ही था। ऐसे भान से भगवान अन्तर में भावना भाते थे कि—

रजकण या ऋद्धि वैमानिक देव की,
सबको माना पुद्गल एक स्वभाव जब...

जिसे अभी जड़-चैतन्य के भिन्नपने का भान ही न हो, उसे तो पर से भिन्न चैतन्य की भावना भी कहाँ से होगी? भगवान को भिन्नता का भान तो था, तथापि अल्प राग के कारण पर की ओर झुकाव जाता था, उन पर की ओर के भावों से विमुख होकर चैतन्य में लीन होने के लिये भगवान भावना भाते थे कि

अपूर्व अवसर ऐसा किस दिन आयेगा?
कब होऊँगा बाह्यान्तर निर्ग्रन्थ जब?
सर्वसम्बन्ध का बन्धन तत्क्षण छोड़कर,
विचरूँगा कब महत पुरुष के पन्थ जब...

卐

विकल्प के अभावरूप परिणमन कब होगा?

बहुत से जीव विकल्प का अभाव करना चाहते हैं और स्थूल विकल्प कम होने पर ऐसा मानते हैं कि विकल्प का अभाव हुआ परन्तु वास्तव में विकल्प का अभाव करने के ऊपर जिसका लक्ष्य है, उसे विकल्प का अभाव नहीं होता परन्तु जिसमें विकल्प का अभाव ही है, ऐसे शुद्ध चैतन्य को लक्ष्य में लेकर उसमें एकाग्र होने पर विकल्प का अभाव हो जाता है। मैं इस विकल्प का निषेध करूँ—ऐसे विकल्प का निषेध करने की ओर जिसका लक्ष्य है, उसका लक्ष्य शुद्ध आत्मा की ओर नहीं ढला है, परन्तु विकल्प की ओर ढला है, इसलिए उसमें विकल्प की ही उत्पत्ति होती है। शुद्ध आत्मद्रव्य की ओर झुकना, वही विकल्प के अभाव की पद्धति है। उपयोग का झुकाव अन्तर्मुख स्वभाव की ओर होने पर विकल्प छूट जाते हैं।

'विकल्प का निषेध करूँ'—ऐसे लक्ष्य से विकल्प का निषेध नहीं होता, परन्तु विकल्प की उत्पत्ति होती है क्योंकि 'यह विकल्प है और इसका निषेध करूँ', ऐसा लक्ष्य किया, वहाँ विकल्प के अभावरूप स्वभाव तो दृष्टि में नहीं आया,

इसलिए वहाँ मात्र विकल्प का ही उत्थान होता है। 'यह विकल्प है और इसका निषेध करूँ' ऐसे विकल्प के अस्तित्व के सामने देखने से उसका निषेध नहीं होगा, परन्तु 'मैं ज्ञायकस्वभाव हूँ' ऐसे स्वभाव के अस्तित्व के सामने देखने से विकल्प के अभावरूप परिणमन हो जाता है। पहले आत्मस्वभाव का श्रवण-मनन करके उसे लक्ष्य में लिया हो और उसकी महिमा जाना हो तो उसमें अन्तर्मुख होकर विकल्प का अभाव करे। परन्तु आत्मस्वभाव की महिमा लक्ष्य में लिये बिना किसके अस्तित्व में खड़े रहकर विकल्प का अभाव करेगा?

विकल्प का अभाव करना भी उपचार का कथन है। वस्तुत: विकल्प का अभाव करना नहीं पड़ता। अन्तर स्वभावसन्मुख जो परिणति हुई, वह परिणति स्वयं ही विकल्प के अभावस्वरूप है, उसमें विकल्प है ही नहीं तो फिर किसका अभाव करना? विकल्प की उत्पत्ति नहीं हुई, इस अपेक्षा से विकल्प का अभाव किया, ऐसा कहा जाता है परन्तु उस समय विकल्प था और उसका अभाव किया है, ऐसा नहीं है।

एक ओर त्रिकाल ध्रुव ज्ञानस्वभाव का अस्तित्व है तथा दूसरी ओर क्षणिक विकल्प का अस्तित्व है, वहाँ ध्रुव ज्ञायकस्वभाव में विकल्प का अभाव है। उस ज्ञायकस्वभाव को लक्ष्य में लेकर उसमें एकाग्र होने पर विकार के अभावरूप परिणमन हो जाता है। वहाँ 'मैं ज्ञायक हूँ और विकार नहीं' ऐसे दो पहलुओं पर लक्ष्य नहीं होता, परन्तु 'मैं ज्ञायक हूँ' ऐसे अस्तिस्वभाव को लक्ष्य में लेकर उसका अवलम्बन लेने से विकार का अवलम्बन छूट जाता है। स्वभाव की अस्तिरूप परिणमन होने पर विकार की नास्तिरूप परिणमन भी हो जाता है, स्वभाव में परिणमित ज्ञान स्वयं विकार के अभावरूप परिणमित है। इसे स्वभाव की अस्ति अपेक्षा से 'सम्यक् एकान्त' कहा जाता है और स्वभाव की अस्ति में विकार की नास्ति है, इस अपेक्षा से इसे ही 'सम्यक् अनेकान्त' कहा जाता है। स्वभाव की अस्ति को लक्ष्य में लिये बिना (सम्यक् एकान्त बिना) अकेली विकार की नास्ति को लक्ष्य में लेने जाए तो वहाँ 'मिथ्या एकान्त' हो जाता है, अर्थात् उसे पर्यायबुद्धि

से विकार के निषेधरूप विकल्प में एकत्वबुद्धि हो जाती है, परन्तु विकल्प के अभावरूप परिणमन नहीं होता। इससे आत्मस्वभाव का एक का ही भलीभाँति अवलम्बन करना, यही विकल्प के अभावरूप परिणमन की विधि है।

卐

धन्य है वह सम्यग्दृष्टि

सम्यग्दृष्टि अपने पूर्ण आत्मा को ऐसा मानता है कि अहो! हम तो चैतन्य हैं। यह देह हमें नहीं है। हमारे आत्मा को सिद्ध भगवान से जरा भी कम मानना हमें नहीं पोसाता, हम हमारे आत्मा को सिद्धसमान परिपूर्ण ही स्वीकार करते हैं। अन्तर स्वभाव के अवलोकन की ओर झुकते हुए निहाल कर दे, ऐसा हमारा चैतन्य भण्डार है। अन्तर स्वभाव की रुचि द्वारा आठ वर्ष की राजकुमारी भी ऐसा आत्मभान कर सकती है। पूर्व में आत्मा की दरकार किये बिना विषय-कषाय में जीवन बिताया हो, तथापि यदि वर्तमान रुचि बदलकर आत्मा की रुचि करे तो ऐसा अपूर्व आत्मभान हो सकता है।

卐 ❀ 卐

छोटी पीपर का प्रसिद्ध दृष्टान्त

जिस प्रकार छोटी पीपर में चौंसठ पहरी चरपराहट की ताकत है, वह घोंटने से उसमें से ही प्रगट होती है। वर्तमान में पूर्ण चरपराहट प्रगट नहीं है, तथापि उसकी शक्ति का भरोसा करता है कि इसमें वर्तमान में पूर्ण चौंसठ पहरी चरपराहट शक्तिरूप से भरी है और वह सर्दी मिटा देगी। इस प्रकार पहले उसका भरोसा करता है, पश्चात् उसे घोंटकर चरपराहट प्राप्त करता है; उसी प्रकार आत्मा में वर्तमान अधूरी अवस्था के समय भी अनन्त ज्ञान, अनन्त आनन्द इत्यादि अनन्त गुणों की पूर्ण अखण्ड शक्ति भरी है। उसका विश्वास करके उसमें एकाग्र होने पर वह प्रगट होती है। स्वस्वभाव का विश्वास नहीं किया, इसलिए देह वह मैं, राग-द्वेष मेरे

काम हैं – ऐसा अज्ञान द्वारा आत्मा के स्वभाव को ढँक दिया है और माना है कि ऐसा पूर्ण मैं नहीं हूँ।

卐

किसी भी प्रकार आत्मानुभव कर

देह से भिन्न चैतन्यस्वभाव से शोभित हो रहा ऐसा तेरा आत्मा सन्त तुझे दिखलाते हैं, उसे देखकर हे जीव! तू प्रसन्न हो... आनन्दित हो।

卐 ❀ 卐

हे भाई! तू किसी भी प्रकार से तत्त्व का कौतूहली हो। हित की शिक्षा देते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि हे भाई! चाहे जैसे करके तू तत्त्व का जिज्ञासु हो और देह से भिन्न आत्मा का अनुभव कर। देह के साथ तुझे एकता नहीं है परन्तु भिन्नता है। तेरे चैतन्य का विलास देह से भिन्न है, इसलिए तेरे उपयोग को देह की ओर से हटाकर अन्तरोन्मुख कर।

पर में तेरा नास्तित्व है, इसलिए तेरे उपयोग को पर की ओर से विमुख कर। तेरे उपयोगस्वरूप आत्मा में पर की प्रतिकूलता नहीं है, इसलिए मरण जितना कष्ट (—बाह्य प्रतिकूलता) आवे तो भी उसकी दृष्टि छोड़कर अन्तर में जीवन्त चैतन्यस्वरूप की दृष्टि कर। '**मृत्वा अपि**' अर्थात् मरकर भी तू आत्मा का अनुभव कर—ऐसा कहकर आचार्यदेव ने शिष्य को पुरुषार्थ की प्रेरणा दी है। बीच में कोई प्रतिकूलता आवे तो तेरे प्रयत्न को छोड़ नहीं देना, परन्तु मरण जितनी प्रतिकूलता सहन करके भी तू आत्मा का पता लेना, उसका अनुभव करना। मुझे मेरे आत्मा में ही जाना है, उसमें बीच में पर की दखल कैसी? प्रतिकूलता कैसी? बाहर की प्रतिकूलता का आत्मा में अभाव है—ऐसे उपयोग को पलटाकर आत्मा में झुका, ऐसा करने से पर के साथ एकताबुद्धिरूप मोह छूट जाएगा और तुझे पर से भिन्न तेरा चैतन्यतत्त्व आनन्द के विलाससहित अनुभव में आयेगा।

अड़तीस गाथा तक पर से भिन्न शुद्ध जीव का स्वरूप बहुत-बहुत प्रकार से स्पष्ट करके समझाने पर भी जो न समझता और देहादि को ही आत्मा मानता है, उसे आचार्यदेव कड़क सम्बोधन करके समझायेंगे कि हमने इतना समझाया तो भी जो जीव देह को, कर्म को तथा राग को ही आत्मा का स्वरूप मानता है, वह जीव मूढ़ है, अज्ञानी है, पुरुषार्थहीन है। पर को ही आत्मा मानकर वह आत्मा के पुरुषार्थ को हार बैठा है। रे पशु जैसे मूढ़! तू समझ रे समझ! भेदज्ञान करके तेरे आत्मा को पर से भिन्न जान, राग से भिन्न चैतन्य का स्वाद ले।

जिस प्रकार जैसे माता बालक को शिक्षा देती है, उसी प्रकार आचार्यदेव शिष्य को अनेक प्रकार से समझाते हैं और उसमें शिष्य के हित का ही आशय है।

आचार्यदेव कहते हैं कि भाई! जड़ की क्रिया में तेरा धर्म खोजना छोड़ दे। यह चैतन्य तेरा धर्म है, यह कभी जड़ हुआ नहीं। जड़ और चैतन्य इन दोनों द्रव्य के भाग करके मैं तुझसे कहता हूँ कि यह चैतन्यद्रव्य ही तेरा है। इसलिए अब जड़ से भिन्न तेरे शुद्ध चैतन्यतत्त्व को जानकर तू सर्व प्रकार से प्रसन्न हो... तेरा चित्त उज्ज्वल करके सावधान हो... और 'यह स्वद्रव्य ही मेरा है'—ऐसा तू अनुभव कर। आहा! ऐसा चैतन्यतत्त्व हमने तुझे दिखाया, अब तू आनन्द में आ... प्रसन्न हो!

जिस प्रकार दो लड़के किसी वस्तु के लिये विवाद करें तो माता बीच में पड़कर भाग कर देती है और समाधान कराती है। उसी प्रकार यहाँ आचार्यदेव जड़-चेतन के भाग करके, अज्ञानी जैसे बालक को समझाते हैं कि ले, यह तेरा भाग! देख... यह चैतन्य है, वह तेरा भाग है और यह जड़ है, वह जड़ का भाग है। तेरा चैतन्य ऐसा का ऐसा पूरा का पूरा शुद्ध है। उसमें कुछ बिगड़ा नहीं, इसलिए तेरा यह चैतन्य भाग लेकर अब तू प्रसन्न हो... आनन्दित हो... तेरे मन का समाधान करके तेरे चैतन्य को आनन्द से भोग, उसके अतीन्द्रिय सुख के स्वाद का अनुभव कर।

अज्ञानी का अज्ञान कैसे मिटे और उसे चैतन्य के सुख का अनुभव कैसे हो, इसके लिये आचार्यदेव उपदेश देते हैं। कड़क सम्बोधन करके नहीं कहते, परन्तु

कोमल सम्बोधन करके कहते हैं कि हे वत्स! इस जड़ देह के साथ एकमेकपना तुझे शोभा देता है? नहीं, नहीं। तू तो चैतन्य है, इसलिए जड़ से भिन्न हो। देह का पड़ोसी होकर उससे भिन्न तेरे चैतन्य को देख। दुनिया की दरकार छोड़कर तेरे चैतन्य को देख। यदि तू दुनिया की अनुकूलता या प्रतिकूलता देखने में रुकेगा तो तेरे चैतन्य भगवान को तू नहीं देख सकेगा। इसलिए दुनिया का लक्ष्य छोड़कर, उससे अकेला पड़कर अन्तर में तेरे चैतन्य को देख। अन्तर्मुख होने पर ही तुझे खबर पड़ेगी कि चैतन्य का कैसा अद्‌भुत विलास है!

卐 ❁ 卐

नारियल और आत्मा

नारियल में ऊपर के टॉप से, छाल से और काँचली से खोपरा भिन्न है; उसी प्रकार खोपरे के ऊपर की लालिमा भी काँचली की ओर का भाग है, वास्तविक खोपरा नहीं। मात्र अन्दर का सफेद मीठा गोला ही खोपरा है। इसी प्रकार शरीर नारियल के ऊपर के टॉपरूप है, तैजसशरीर नारियल के छालरूप है, कार्मणशरीर नारियल की काँचलीरूप है, वे कोई आत्मा के नहीं हैं और वर्तमान राग-द्वेषरूपी लालिमा भी पर के ओर की है, आत्मा की नहीं। भगवान आत्मा तो त्रिकाली, एकरूप अखण्ड, ज्ञानशक्ति से पूर्ण है। ऐसी श्रद्धा न हो, तब तक धर्म का अंश प्रगट नहीं होता। जब तक नारियल में हरापन है, तब तक अन्दर का गोला एकदम पृथक नहीं पड़ता और तब तक काँचली की ओर की चिकनाई को गौणरूप से लक्ष्य में रखना पड़ता है। इसी प्रकार शुद्ध द्रव्यदृष्टि से पूर्ण कृतकृत्य ऐसे अखण्ड तत्त्व को श्रद्धा में लिया, परन्तु उसके साथ ही राग-द्वेष सम्पूर्णरूप से नहीं मिट जाते, क्योंकि चारित्र की अपेक्षा से कचास रहती है।

卐 ❁ 卐

सन्तों के विविध वचनामृत

अनन्त काल से परसन्मुख लक्ष्य कर रहा है; अब स्वसन्मुख लक्ष्य बदल, उसका ही पुरुषार्थ कर। आज कर, अभी कर, परन्तु यह कार्य करने से ही छूटकारा है, तभी भव का अन्त आनेवाला है, सच्चा सुख मिलनेवाला है।

❁

राग-द्वेष से—शुभाशुभ संकल्प-विकल्प से, अरे! आत्मा की क्षणिक पर्याय से भी कथंचित् भिन्न ऐसा ज्ञायकस्वभाव पहिचानकर उसमें ही लक्ष्य कर, उसका ही पुरुषार्थ कर।

❁

'मैं अबद्ध हूँ' इत्यादि विचार जब तक भेद में खड़ा रहकर करता है, तब तक ज्ञायकस्वभाव का सम्यक् स्वीकार नहीं है।

❁

पर में सुखबुद्धि रहती हो, किसी भी कषाय के रस में-शुभ परिणाम में भी-मिठास रहती हो, तब तक उपयोग अन्दर जाने से रुकता है और बाहर का बाहर भ्रमता है। वास्तव में जीव को अन्तर से शुभाशुभपरिणाम की थकान लगनी चाहिए। यदि वास्तविक थकान लगे तो अन्तरोन्मुख हुए बिना रहे ही नहीं।

❁

हे माता! आज्ञा दे। अब दूसरी माता नहीं करूँगा। मेरी स्थिरता का यह मौसम काल है। मेरा लाखों का क्षण जाता है, आज्ञा दे। मेरे आत्मा का वीर्य उछला है, इसलिए अभी ही सिद्धपद को शीघ्रता करके प्राप्त करूँगा। यह ज्ञानी की अन्तर से पुकार है।

❁

विभाव से हटकर चैतन्यभगवान की ओर देखे तो चैतन्यभगवान के दर्शन

होते ही हैं। आत्मा का मूल पकड़ने से संसार का मूल अपने आप चला जाएगा।

❁

हे आत्मा! आत्मा में प्रीति लगा कि जिससे निर्विकल्प ध्यान प्रगट होकर विकल्प की थकान मिटे और आनन्द... आनन्द आवे।

❁

'पर की तुझे क्या पड़ी ? तू तेरा सम्हाल। मात्र जाननेवाले को जान, चेतनेवाले को चेत।'

❁

जीव ज्ञान-दर्शन के पंखों से उड़े तो स्थिरता लेते हुए केवलज्ञान प्राप्त करे, ऐसा मार्ग है।

❁

शास्त्र वाँचन, भक्ति आदि आत्मा के प्रयोजन के लिये है। यदि तू लोकरंजन से रँग गया तो आत्मा खो जाएगा। इसलिए एक बार आत्मरंजन करके भव का अभाव कर।

❁

तू गुणी का संग करना, दोषी के संग से गुणरहित हो जाएगा। विभाव ठगकर कहीं ले जाएगा, इसलिए तू ध्यान देकर चलना। भूल खाना नहीं।

❁

तू तुझे अच्छा लगा। दूसरे से क्या प्रयोजन है ? आत्मा के निकट जाकर उसके साथ बातें कर। गुणों के साथ गोष्ठी कर कि हे गुण! तू कैसे प्रगट होगा ? तेरा स्वाद कैसा ? तेरा स्वाद आने पर क्या होगा ? तेरे अनन्त गुणों का संग करके उनके साथ केलि कर। (बाहर से) असंगी हो जा और (अन्दर में) वीतरागता का साथ कर।

❁

जीव बाहर के बगीचे के फल-फूल देखने में तल्लीन होता है, वहाँ घूमता है, भोजन करता है। हे आत्मा! तेरे चैतन्यरूपी नन्दनवन में फल-फूल के वृक्ष, फव्वारे, कुण्ड, महल इत्यादि सब अत्यन्त सुन्दर है। वहाँ अनन्त शक्ति की सुगन्ध महकती है और आनन्दरस का भोजन है। उस नन्दनवन में जाने पर तुझे बाहर के बगीचे में आना नहीं सुहायेगा। इसलिए निज चैतन्य बगीचे में तू रम, घूम, जम।

❁

जहाँ अन्दर से चैतन्य की एकाग्रता की टंकार हुई, वहाँ चैतन्य के रणकारमात्र से विकल्पों की तरंग उठती थी, वह नष्ट हो गयी—भाग गयी।

❁

शास्त्र का अभ्यास करके सारभूत ज्ञायकतत्त्व को तू जान। यह नहीं किया तो शास्त्रअभ्यास किस काम का? शास्त्र के विशेष जाननेवाले की या अल्प जाननेवाले की निन्दा नहीं करना। शास्त्रश्रवण-वाँचन-उपदेश यह सब अपने हित के लिये है; दूसरों के लिये नहीं। एक ज्ञायकस्वभाव को पहिचानना और उसमें लीन होना, यह मुख्य प्रयोजन है।

❁

दूसरे के दोष देखने से तेरे ज्ञान का नाश हो जाएगा, इसलिए गुण ग्रहण कर। मात्र जैसे हो, वैसे यथायोग्य जान ले। राग-द्वेष में उलझ गया तो मार्ग हाथ नहीं आयेगा। सावधानी से चलना, कहीं अभिमान नहीं आना। यह तो निश्चय का मार्ग है, इसमें गड़बड़ नहीं चलती।

❁

व्यवस्थित जगत की व्यवस्था में फेरफार करने जाता है, उसमें ही आकुलता हुआ करती है। दुनिया भले अनुकूल या प्रतिकूल रहो, मुझे मेरा आत्मा अनुकूल है।

❁

जैसे जो वस्तु देखनी हो, उस पर प्रकाश डालने से वस्तु दिखती है, उसी

प्रकार आत्मा को देखना हो तो आत्मा है, वहाँ ज्ञानप्रकाश डालने से आत्मा के दर्शन होते हैं।

❁

शास्त्ररूपी दीपक से तू आत्मारूपी रत्न भलीभाँति परख ले। दीपक से वस्तु को भलीभाँति देख लेने के पश्चात् मनुष्य दीपक लेकर घूमता नहीं है, उसी प्रकार शास्त्र जानने का सार आत्मा को भलीभाँति पहिचान लेना है।

❁

रुचि अनुयायी वीर्य; और जिसमें प्रयत्न किया जाए, वह जवाब दिये बिना नहीं रहता। मेरा सुख मुझमें है, ऐसा समझकर तुझे प्राप्त करने की ललना-लगन वास्तविक जगे तो वह आत्मा का पीछा पकड़े बिना नहीं रहता और आत्मदेव जवाब दिये बिना नहीं रहता। इसलिए अन्तर तल में जाकर चैतन्य का पता ला।

❁

यह चैतन्य महान पदार्थ है। इसके अस्तित्व की दृढ़ भूमिका प्राप्त हो, तब ज्ञान-दर्शन के पंखों से उड़ा जाए। स्वभाव-विभाव की एकता रखकर जानपने की धारणा करे या कषाय की मन्दता करे तो उस पोली जमीन में से नहीं उड़ा जा सकता।

❁

जीव अनन्त काल से क्रोध-मान-माया आदि के रस में अटका है; विशेष रूप से जीव मान के रस में अटका है, इसलिए वह आत्मा की रुचि नहीं करता। इसलिए कषाय के नांगलां स्थिर करके आत्मा का रस अनन्त बढ़ाना। इज्जत जाने का प्रसंग आवे, निन्दा आदि प्रतिकूल प्रसंग आवे, अन्त में मरण का प्रसंग भी आवे, तो भी एक आत्मा ही मुझे चाहिए है, ऐसी रुचि और रस मुख्य कर देना।

❁

जीव निचली भूमिका में दोष का सर्वथा अभाव करना चाहे तो वह यथार्थ

नहीं है और साथ ही साथ खेद न रहे तो वह भी यथार्थ नहीं है, क्योंकि भूमिका के योग्य (अशुद्ध) भाव उस भूमिका में नहीं टलेंगे, परन्तु यदि खेद रहेगा तो उस भूमिका के योग्य (अशुद्ध) भावों का क्रमशः अभाव होगा।

❁

वस्तु के पूर्ण स्वरूप के ध्येयरहित वीर्य का उठाव कषाय की मन्दता में अटक जाता है। जबकि पूर्णता के लक्ष्य से उल्लसित वीर्य की गति उग्रता को पहुँच जाती है।

जैनदर्शन वस्तुस्वभाव है। इसके भाव और रहस्य आत्मार्थी, मार्गानुसारी तथा ज्ञानी ही समझ सकते हैं।

❁

परसन्मुख झुकने से परिणमन के वेग को स्वभाव में झुकाना, यही पुरुषार्थ है। स्वभाव में राग-द्वेष का अभाव है, इसलिए वास्तविक उदासीनता-वैराग्य स्वभावपर्याय में ही है।

❁

साधारण प्रकार के जिज्ञासा के उठावे से उठे हुए जीव कहीं न कहीं अटक ही जाते हैं, और वहाँ सन्तोष मान बैठते हैं। जो जीव यथार्थ जिज्ञासा से उठे हैं, वे भवभ्रमण का अभाव करने और परिणति को पलटाना चाहते हैं, जिससे बीच में कहीं न अटक कर अपना कार्य प्रगट करते हैं। निज कार्य प्रगट हुए बिना उन्हें कहीं सन्तोष नहीं होता, सुख नहीं लगता।

❁

वस्तु के अस्तित्व में से आयी हुई हकार ही यथार्थ है। वहाँ प्रत्येक गुण के अंशरूप परिणमन का झुकाव स्वसन्मुख हो गया होता है, क्योंकि द्रव्य-गुण अभेद है।

❁

सम्यक्रूप से परिणमित मति-श्रुतज्ञान केवलज्ञान को बुलाता है कि चले आओ, चले आओ, केवलज्ञान! तुम चले आओ। अब तो केवलज्ञान प्रगट होकर ही रहेगा।

❁

ज्ञानी का एक ही शब्द मिले तो भी पात्र जीव उछल पड़ता है कि अहो! 'ज्ञानी का शब्द मुझे कहाँ से?' ज्ञानी का एक शब्द भी ऐसी सामर्थ्य लेकर आता है कि यदि जीव वास्तव में सुने तो उसकी दृष्टि बदल जाए और आत्मा का कल्याण हो जाए।

❁

ज्ञानी को चैतन्य... चैतन्य ही नितरता है, चैतन्य की ही रगड़ है। उनका एक शब्द आवे, वहाँ तो चैतन्य रत्नाकर डोल उठता है।

❁

कुएँ का पानी मापने के लिये कुएँ में गहरे उतरकर तल में जाकर पता लाया जाता है; उसी प्रकार आत्मा में गहरे उतरकर पता ले आ। आत्मा को जान ले तो अवश्य मोक्ष होगा। मरने जैसा प्रसंग आवे तो भी तू पुरुषार्थ से विमुख नहीं होना। एक बार पुरुषार्थ कर... अर्पणता कर। विभाव को छोड़ दे और सत्पुरुष कहते हैं, वह आशय ग्रहण कर।

❁

सर्वोत्कृष्ट तत्त्व को बतलानेवाली सर्वोत्कृष्ट वाणी तुझे प्राप्त हुई है, यहाँ तक तू आया है, तथापि अभी भी अन्तर में जाने से तुझे डर क्यों लगता है?

❁

ज्ञान जिस सत्ता का नहीं है, उसे जान सकता है तो फिर ज्ञान जिस सत्ता का है, उसे क्यों नहीं जान सकता? (ज्ञान परसत्ता को जानता है तो स्वसत्ता को क्यों नहीं जानेगा?)

❁

'वस्तु ऐसी है' ऐसा उसका विकल्पात्मक भी निर्णय करे तो उसके वीर्य को अब अन्यत्र जाने का, दूसरी ओर ढलने का, अवकाश ही नहीं रहता।

❁

द्रव्य में 'मैं' पना स्थापित करती पर्याय आनन्द प्राप्त करती है, जबकि पर्याय में 'मैं' पना स्थापती पर्याय दु:ख प्राप्त करती है।

❁

जिस वस्तु में दु:ख का त्रिकाल अभाव वर्तता है, उस आत्मवस्तु के आश्रय से वर्तमान पर्याय का दु:ख नाश को प्राप्त होता है।

❁

पर्याय में द्रव्य का ज्ञान होने पर भी, पर्याय में द्रव्य नहीं आता और द्रव्य में पर्याय नहीं आती। पर्याय अपने अस्तित्व में रहकर द्रव्य का ज्ञान अपने सामर्थ्य से करती है।

❁

नयपक्ष के विकल्पों से आत्मा खण्डितरूप से लक्ष्य में आता है, परन्तु अखण्डरूप से लक्ष्य में नहीं आता।

❁

बन्ध और मोक्ष के प्रति समभाव हो, ऐसी वीतरागता कब आयेगी ? पर्याय में बन्ध हो या मोक्ष हो, हम तो वीतरागी आत्मा हैं। हमें बन्ध के प्रति द्वेष नहीं और मोक्ष के प्रति राग नहीं।

❁

मुनिराज ऐसी भावना भाते हैं कि शरीर हमारा नहीं और हमें चाहिए भी नहीं। कदाचित कोई सिंहादि शरीर लेने आवे तो वह हमारा मित्र है। हम तो हमारे अडोल आसन में लीन रहकर अशरीरी दशा प्राप्त करेंगे।

❁

द्रव्य, पर्याय में आया नहीं और पर्याय, द्रव्य में मिली नहीं। ऐसे एक समय की व्यक्तता से भिन्न आत्मा 'सप्तम द्रव्य' हो जाता है।

❁

मैं सामान्य-विशेषात्मक नहीं, परन्तु सामान्यभावरूप हूँ, ऐसा जो आत्मा को देखता है—वह सर्व जिनशासन को देखता है।

❁

दिव्यध्वनि ऐसा कहती है कि भगवान को मानना हो तो अन्तर में दृष्टि करो।

❁

स्वभाव की दृष्टि करने के लिये 'सब अवसर' आ गया है, किसी अवसर की कमी नहीं है।

❁

दो वर्तमान पर्यायों के बीच का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध दो द्रव्यों की स्वतन्त्रता को प्रसिद्ध करता है, एकपने को नहीं।

❁

सम्यग्ज्ञान जो स्वभाव-सन्मुख अन्दर उन्मुख हुआ, वह स्वभाव ही भूतार्थ है, सामान्य है। अन्तर में दृष्टि जाने से भूतार्थ ही दृष्टि में रह जाता है। 'यह भूतार्थ है, सामान्य है' ऐसा भेद-विकल्प तब नहीं होता।

❁

एक समय का अंश सत् है, स्वतन्त्र है, उसे पर की अपेक्षा नहीं और द्रव्य उसका कारण नहीं। विकारी पर्याय भी जहाँ अपने षट्कारक से स्वतन्त्र होती है, तो निर्मल पर्याय की क्या बात करना?

जो अपने से अस्तिवाला तत्त्व है, उसे दूसरे की अपेक्षा क्या होगी?

❁

हम तो संकट के मारे विदेह से यहाँ आये हैं। हम यहाँ के नहीं हैं।

— पूज्य गुरुदेवश्री

❁

पर को समझाना, वह भी दीनता है और पर से समझना, वह भी दीनता है।

❁

आनन्द द्रव्य, आनन्द गुण, आनन्द पर्याय... आनन्द का यह विस्तार है। इसलिए तुझे आनन्द चाहिए हो तो आनन्दमय द्रव्य का आश्रय ले, तो ही पर्याय में आनन्द आयेगा। राग या परद्रव्य के आश्रय से आनन्द नहीं आयेगा, क्योंकि उनमें आनन्द व्याप्त—फैला हुआ—पसरा हुआ नहीं है।

❁

ज्ञानी ऐसा जानता है कि मैं तो मेरे निर्मल द्रव्य-गुण-पर्याय में हूँ। मैं राग में और पर में नहीं हूँ। जहाँ मैं हूँ, वहाँ वे नहीं हैं और जहाँ वे हैं, वहाँ मैं नहीं हूँ।

❁

आत्मा में परज्ञेयरूप से ज्ञात होते रागादि, चैतन्य के स्व-पर प्रकाशक स्वभाव को प्रसिद्ध करते हैं; रागादि को नहीं। और उन रागादि का ज्ञान भी रागादि है, इसलिए होता है—ऐसा नहीं है। वह ज्ञान स्वयं से—अपने स्वभाव से है।

❁

सुखिया जगत में सन्त, दुरिजन दुखिया रे....

卐 ❁ 卐

'स्वयं ने अपनी दया नहीं की।' अर्थात्? कि अपना अनन्त चैतन्यज्योतिमय जीवन्त जागता जीवन है, उसे नहीं माना और रागादिरूप मैं हूँ, ऐसा स्वीकार किया, वह अपनी हिंसा है। जैसा स्वरूप है, वैसा नहीं माना—यही स्वहिंसा है।

चैतन्य भगवान आत्मा आनन्द का नाथ है, उसमें जिसने नजर की, वह सन्त सुखी है और जिसने आनन्द के नाथ को खोजकर, शोधकर प्रगट नहीं किया, वे सभी दुरिजन दु:खी हैं।

पर्याय में तीव्रतम मिथ्यात्व हो या केवलज्ञान हो, मैं तो अनादि काल से ऐसा का ऐसा ही हूँ।

भाई! इस भभक की तो श्मशान में राख होनेवाली है और तू तो अनादि-अनन्त रहनेवाला है। यदि इस भव में मिथ्यात्व-राग को सेवन किया होगा तो अनन्त काल उसमें ही रहेगा और यदि शुद्धात्मा को सेवन किया होगा तो अनन्त काल आत्मा में—सुख में रहेगा।

प्रभु अम पासे रे, विभु नो ता वेगळा रे;
सदा वसे साहेब अमारी साथ...
अज्ञाने अवराणो प्रभु, हम आतमा रे;
तेथी सर्व शक्तिनी व्यक्तिनो नाश...
नावरूपी निर्मल रे आत्मानुं ध्यान;
कोई तेना मालमीया होय रे संत,
ज्ञानी संत कहे छे रे, जे शुद्धात्मा ने अनुभवे रे,
ते जीव ना भवदु:ख नो आवे रे अन्त।

श्री जगुभाई की मनोभावना

(कितने ही पसन्दित अवतरण)

मैं वर्तमान में ही मुक्त हूँ। आनन्द की मूर्ति हूँ, आनन्द से भरचक समुद्र ही हूँ—ऐसी दृष्टि हो तो फिर मोक्ष से भी प्रयोजन नहीं; मोक्ष हो तो हो, न हो तो भी क्या? (पर्याय की इतनी गौणता द्रव्यदृष्टि में हो जाती है)। मुझे तो वर्तमान में भी आनन्द आ रहा है, फिर परिणति में मोक्ष होगा ही, (ऐसी प्रतीति आ जाती है) लेकिन मुझे तो उससे भी प्रयोजन (दृष्टि) नहीं है।

मैं पहले तो सब सुन लूँ, जान लूँ, पीछे पुरुषार्थ करूँगा। ऐसे पीछेवाला सदा पीछे का पीछे ही रहेगा। (यहाँ तो) वर्तमान इसी क्षण से ही करने की बात है। पहले आत्मा की प्रभावना करने की बात है।

दूसरे से सुनना-माँगना सब पामरता है, दीनता है, भिखारीपन है। मुझमें क्या कमी है तो मैं दूसरे से माँगू? मैं ही परिपूर्ण हूँ...

एक ही 'मास्टर की' (Master Key) है, सब बातों में सब शास्त्रों में, एक ही सार है। त्रिकालीपने में अपनापन जोड़ देना है।

जैसे इन्जैक्शन हमेशा लेने की जिसकी आदत हो गयी है, उसको इन्जैक्शन लिये बिना चैन नहीं पड़ता; इसी प्रकार सुनने आदि की जिसको आदत हो गयी है, उसको सुनने (आदि) के बिना चैन नहीं पड़ता लेकिन (सुनने आदि के भाव में) तीव्र निषेध आये बिना उससे छूट सकता ही नहीं। (स्वरूप दृष्टि के बनने पर सभी प्रकार के शुभ भाव-परलक्ष्यी भाव का निषेध आये बिना वे शुभभाव छूटते नहीं)।

बस एक ही बात है कि 'मैं त्रिकाली हूँ' ऐसे जमे रहना चाहिए। पर्याय होनेवाली हो—योग्यतानुसार हो जाती है, मैं उसमें नहीं जाता। मैं, क्षयोपशम हो, न हो, याद रहे या न रहे, लेकिन असंख्य प्रदेश में प्रदेश-प्रदेश में व्यापक हो जाना चाहिए।